भूले-बिसरे देवता

यूरोप ने हज़ार जीती-जागती रूहों को
आसमान में बैठे एक दूर के राजा के बदले कैसे दे दिया

लेखक

लवप्रीत सिंह

एक सीधी-सादी इतिहास की बात — कि जब जंगल, नदी और तूफ़ान के पुराने धर्मों की जगह बाहर से आए एक नए धर्म ने ले ली, तो असल में क्या कुछ खो गया।

लेखक की एक बात

मेरा नाम लवप्रीत सिंह है। मेरी उम्र 24 साल है। मुझे हर रोज़ कुछ नया सीखना अच्छा लगता है। मैं कारोबार, तकनीक, राजनीति, मनोविज्ञान, दर्शन, अर्थशास्त्र और इतिहास पढ़ता रहता हूँ। मुझे हमेशा यह जानने की उत्सुकता रहती है कि दुनिया आख़िर आज जैसी है, वैसी बनी कैसे।

एक दिन मैं धर्म के बारे में सोच रहा था। मैंने एक बात पर ध्यान दिया। दुनिया भर की ज़्यादातर पुरानी सभ्यताएँ प्रकृति की पूजा करती थीं। यानी वे पेड़ों, नदियों, पहाड़ों, सूरज और बारिश को ही पवित्र मानकर उनके आगे प्रार्थना करती थीं। फिर कहीं किसी मोड़ पर आकर ये ज़्यादातर पुराने धर्म ख़त्म हो गए। उनकी जगह ईसाई धर्म और इस्लाम जैसे बड़े, संगठित धर्मों ने ले ली। मैं जानना चाहता था कि असल में हुआ क्या। सो मैंने पढ़ना शुरू किया।

जो मुझे मिला, वह मेरे मन में बैठी सीधी-सादी कहानी से कहीं ज़्यादा निर्मम भी था और कहीं ज़्यादा दिलचस्प भी। सच को किसी झूठी कहानी या गढ़ी हुई साज़िश की ज़रूरत नहीं होती। असली इतिहास अपने आप में ही काफ़ी भारी है।

यह किताब मेरी यही कोशिश है कि मैं बता सकूँ कि असल में क्या हुआ था। मैंने उन इतिहासकारों का सहारा लिया है जिन्होंने अपनी पूरी ज़िंदगी इन्हीं घटनाओं को पढ़ने में लगा दी। मैंने उन लोगों की लिखी हुई बातें इस्तेमाल की हैं जो असल में उस ज़माने में ज़िंदा थे। इस किताब का हर दावा जाँचा जा सकता है। मैं चाहता हूँ कि यह ऐसी बात हो जो जाँच करने पर कमज़ोर न पड़े, बल्कि और मज़बूत होती जाए।

मैंने यह जान-बूझकर बहुत आसान भाषा में लिखा है। मुश्किल शब्द अक्सर कमज़ोर बातों को छिपाने के लिए इस्तेमाल किए जाते हैं। मुझे कुछ भी नहीं छिपाना। मैं चाहता हूँ कि आप हर लाइन समझें — चाहे आपको इतिहास, धर्म या इन देवताओं के बारे में पहले से कुछ भी पता न हो। इसीलिए जहाँ कोई नया या अनजान शब्द आएगा, मैं उसी जगह उसका मतलब भी समझा दूँगा। पढ़ने के बाद अगर आप मुझसे असहमत हों, तो भी ठीक है। पर कम-से-कम हम दोनों असली इतिहास पर बात कर रहे होंगे, बनी-बनाई कहानियों पर नहीं।

> **दो शब्द पहले ही समझ लीजिए।** इस किताब में बार-बार दो शब्द आएँगे — "ईस्वी" और "ई.पू."। ईसा मसीह (जिनसे ईसाई धर्म चला) के जन्म के साल को गिनती का शून्य मान लिया गया है। उनके जन्म के **बाद** के सालों को "ईस्वी" कहते हैं (जैसे 2026 ईस्वी = आज)। उनके जन्म से **पहले** के सालों को "ई.पू." यानी "ईसा-पूर्व" कहते हैं। ई.पू. के साल उल्टे चलते हैं — 500 ई.पू., 100 ई.पू. के मुक़ाबले ज़्यादा पुराना समय है।

— ◆ —

लवप्रीत सिंह

2026

विषय-सूची

I. सलीब से पहले: एक ऐसा महाद्वीप जो उसी को पूजता था जो आँखों से दिखता था

II. लोग पहले ज़माने में प्रकृति की पूजा क्यों करते थे

III. रेगिस्तान से आए एक धर्म ने जंगलों के महाद्वीप को कैसे अपने अधीन किया

IV. ज़बरदस्ती धर्म बदलवाने का असली इतिहास

V. धर्मयुद्ध, यहूदी और वे झूठी कहानियाँ जो मरने का नाम नहीं लेतीं

VI. इस्लाम असल में कहाँ से आता है

VII. असल में क्या खोया

VIII. पुराने रास्तों से हम आज भी क्या सीख सकते हैं

IX. स्रोत और आगे पढ़ने के लिए सामग्री

“यूरोप का धर्म बदलना कोई नरम, अपने आप आई लहर नहीं थी, बल्कि एक हज़ार साल तक चला, कभी-कभी बेरहम, और सोचा-समझा राजनीतिक काम था।”

— रॉबर्ट बार्टलैट, द मेकिंग ऑफ़ यूरोप, 1993

— ◆ —

यह किसी धर्म पर हमला नहीं है। यह सिर्फ़ इतिहास की एक सच्ची बात है। इसे खुले मन से पढ़िए। सच इन बनी-बनाई कहानियों से कहीं ज़्यादा दिलचस्प है।

I.

सलीब से पहले: एक ऐसा महाद्वीप जो उसी को पूजता था जो आँखों से दिखता था

> **“सलीब” क्या है?** सलीब (अंग्रेज़ी में “क्रॉस”) ईसाई धर्म का सबसे बड़ा निशान है — दो लकड़ियों को आड़ा-तिरछा जोड़कर बना “+” जैसा चिह्न। ईसाई मानते हैं कि उनके धर्म के संस्थापक ईसा मसीह को इसी तरह की लकड़ी पर ठोककर मारा गया था। इसलिए “सलीब से पहले” का मतलब है — ईसाई धर्म के यूरोप में आने से पहले का ज़माना। और **महाद्वीप** यानी धरती का एक बहुत बड़ा हिस्सा; यहाँ बात यूरोप महाद्वीप की हो रही है।

ज़रा कल्पना कीजिए कि आप 50 ईस्वी में जर्मनी (आज के यूरोप का एक देश) में रहने वाले एक नौजवान हैं। कोई बाइबल नहीं — बाइबल ईसाइयों की पवित्र किताब है। कोई गिरजाघर नहीं — गिरजाघर वह इमारत है जहाँ ईसाई इकट्ठा होकर पूजा करते हैं। इतवार की कोई प्रार्थना नहीं — ईसाई हफ़्ते में एक दिन, इतवार को, मिलकर प्रार्थना करते हैं। आपने ईसा मसीह का नाम तक कभी नहीं सुना, क्योंकि वे सिर्फ़ 50 साल पहले एक दूर-दराज़ की धरती पर पैदा हुए थे जिसके होने की आपको ख़बर तक नहीं। फिर भी आपके पास देवता हैं। बहुत सारे। और वे आसमान में बैठे कोई अनदेखे ख़याल नहीं हैं। वे असली चीज़ें हैं जिन्हें आप हर रोज़ अपनी आँखों से देख और हाथों से छू सकते हैं।

थोर — आपके यहाँ का गर्जना का देवता। जब आसमान में बादल गरजते हैं, तो आप मानते हैं कि आप सचमुच थोर को सुन रहे हैं। फ़्रेयर — फ़सल का देवता। जब आपके खेत की गेहूँ की बाली ऊँची और सुनहरी होती है, आप मानते हैं कि यह फ़्रेयर ने किया। आपके घर के पीछे बहती नदी में एक देवता रहता है। गाँव के बीचोबीच खड़े बड़े-से बलूत के पेड़ (एक तरह का मज़बूत, बड़ा पेड़) में एक आत्मा बसती है। आपकी दादी इन सबके नाम जानती है। जब आप छोटे थे, उसी ने आपको ये सब सिखाए थे।

यह कोई मन से गढ़ी हुई कहानी नहीं है। ईसाई धर्म के आने से पहले यूरोप की हर सभ्यता ठीक इसी तरह सोचती थी। और यह हमें इसलिए पक्के तौर पर पता है क्योंकि रोमन लोग — यानी उस ज़माने की एक बड़ी, ताक़तवर और पढ़ी-लिखी सभ्यता, जिसका केंद्र आज के इटली का शहर रोम था — यह सब लिखकर छोड़ गए।

वह रोमन जिसने जर्मनों का अध्ययन किया

98 ईस्वी में टैसिटस नाम के एक रोमन इतिहासकार ने *जर्मेनिया* नाम की एक किताब लिखी। (इतिहासकार यानी वह व्यक्ति जो पुराने ज़माने की घटनाओं को ढूँढकर, जाँचकर लिखता है।) टैसिटस ख़ुद कभी जर्मनी नहीं गया था, पर उसने उन रोमन सिपाहियों और व्यापारियों से बात की जो वहाँ हो आए थे। वह उन लोगों को समझना चाहता था जो रोमन राज की सरहद के उत्तर में, घने अँधेरे जंगलों में रहते थे।

उसने जो लिखा, वह पुराने यूरोपीय धर्म के बारे में हमारे पास मौजूद सबसे अहम सबूतों में से एक है। *जर्मेनिया* के नौवें अध्याय में टैसिटस कहता है कि जर्मन लोग मंदिर नहीं बनाते। वे अपने देवताओं की मूर्तियाँ नहीं गढ़ते। क्यों? क्योंकि वे इसे अपमान मानते हैं। उनका सोचना था — आप किसी देवता को दीवारों के भीतर क़ैद नहीं कर सकते। आप किसी आत्मा को पत्थर के एक टुकड़े में बंद नहीं कर सकते। इसके बजाय वे "पवित्र वनों" में पूजा करते थे। ऐसा वन कुछ ख़ास पेड़ों का एक छोटा-सा झुरमुट होता था, जिसे वे पवित्र मानते थे। जब उन्हें प्रार्थना करनी होती, वे उन्हीं पेड़ों के बीच जाते और वहीं प्रार्थना करते।

> *"वे जंगलों और वनों को पवित्र मानते हैं, और उस छिपी हुई हस्ती को देवताओं के नाम से पुकारते हैं जिसे वे सिर्फ़ अपनी श्रद्धा से महसूस करते हैं।"*
>
> *— टैसिटस, जर्मेनिया, अध्याय 9, 98 ईस्वी में लिखा*

इस पंक्ति को धीरे-धीरे दोबारा पढ़िए। जर्मन मानते थे कि पेड़ों में कोई छिपी हुई हस्ती है। वे उसे सीधे आँखों से देख नहीं सकते थे। पर वे उसे महसूस कर सकते थे — आदर और श्रद्धा के ज़रिए। यही उनका धर्म था। यह मूर्खता नहीं थी। यह जहालत (बेसमझी) नहीं थी। यह तो अपने आस-पास की दुनिया से जुड़ने का एक सोचा-समझा तरीक़ा था।

यह सिर्फ़ जर्मन ही नहीं थे

ऐसा ही धर्म पूरे यूरोप में फैला हुआ था। आइए, मैं आपको अलग-अलग इलाक़ों का एक छोटा चक्कर लगवाता हूँ। (नीचे जो नाम आ रहे हैं — सेल्ट, स्लाव, नॉर्स वग़ैरह — ये अलग-अलग लोगों के समूह यानी क़बीले/जातियाँ हैं जो यूरोप के अलग-अलग हिस्सों में रहते थे।)

सेल्ट उन जगहों पर रहते थे जिन्हें आज आयरलैंड, स्कॉटलैंड, वेल्स, फ़्रांस और स्पेन के कुछ हिस्से कहा जाता है (ये सब यूरोप के देश हैं)। वे दानू नाम की एक देवी को पूजते थे, जिसे वे ख़ुद एक नदी मानते थे। कुछ कुओं को वे पवित्र मानते थे। मौसम बदलने पर वे धार्मिक त्योहार मनाते थे। समहेन नाम का उनका एक त्योहार 31 अक्तूबर को होता था। जब ईसाई धर्म आया, चर्च (यानी ईसाई धर्म की संस्था) लोगों को यह त्योहार मनाने से रोक नहीं सका, सो उन्होंने इसका नाम बदलकर ईसाई बना दिया — "ऑल सेंट्स डे" यानी "सब संतों का दिन"। आज का हेलोवीन त्योहार यहीं से आता है। इसी तरह 1 मई का बेल्टेन त्योहार आगे चलकर "मे डे" बन गया। साफ़ बात यह है कि ये असल में सेल्ट लोगों के प्रकृति वाले पुराने त्योहार थे, जिन्हें बाद में बस ईसाई पोशाक पहना दी गई।

स्लाव वहाँ रहते थे जो आज रूस, यूक्रेन, पोलैंड और बाल्कन का इलाक़ा है। उनका मुख्य देवता पेरुन था। पेरुन गर्जना और बिजली का देवता था, और माना जाता था कि वह बलूत के पेड़ों में रहता है। वेलेस नाम का एक और देवता था जो धरती के नीचे रहता था और मवेशियों (गाय-बैल वग़ैरह) की रखवाली करता था। स्लाव गाँवों में लकड़ी के बुत ज़रूर होते थे, पर असली पूजा बाहर — नदियों और पेड़ों के पास होती थी।

नॉर्स स्कैंडिनेविया में रहते थे — यानी वे धरतियाँ जिन्हें हम अब नॉर्वे, स्वीडन, डेनमार्क और आइसलैंड कहते हैं (यूरोप के उत्तर के ठंडे देश)। उनका धर्म सबसे ज़्यादा मशहूर है क्योंकि हॉलीवुड ने इस पर फ़िल्में बनाई हैं। ओडिन उनका मुख्य (सबसे बड़ा) देवता था। थोर गर्जना का देवता था। फ़्रेयर फ़सल का देवता था। फ़्रेया एक ही साथ प्रेम की भी देवी थी और युद्ध की भी। ख़ास बात यह थी कि ये देवता मुकम्मल (बिल्कुल सही और

निर्दोष) नहीं माने जाते थे। कहानियों में वे ज़्यादा शराब पीते थे, आपस में लड़ पड़ते थे, कभी-कभी झूठ भी बोल जाते थे। यानी वे इंसानों जैसे ही थे, बस ज़्यादा ताक़तवर — कोई बेदाग़, पूर्ण हस्तियाँ नहीं।

यूनानी और रोमन वे लोग हैं जिनके देवताओं को आज भी ज़्यादातर लोग जानते हैं — ज़ीउस, अपोलो, एथीना, हर्मीस। (यूनान यानी आज का ग्रीस; रोमन यानी रोम वाली सभ्यता।) इनके पास ज़िंदगी के लगभग हर हिस्से के लिए एक अलग देवता था। अपने शानदार मंदिर और मूर्तियाँ बनाने से भी पहले, रोमन भी प्रकृति की आत्माओं को पूजने से ही शुरू हुए थे। हर खेत का एक "लार" होता था, यानी घर की रखवाली करने वाली एक आत्मा। पानी के हर चश्मे (झरने) की अपनी एक जल-परी मानी जाती थी। जंगल में "फ़ॉन" रहते थे (कहानियों के आधे इंसान, आधे बकरे जैसे जीव)। और खेतों में सेरीज़ थी — अनाज की देवी।

बाल्ट वे लोग हैं जो आगे चलकर लिथुआनियाई और लातवियाई कहलाए (यूरोप के एक छोटे इलाक़े बाल्टिक के लोग)। हमारी कहानी के लिए वे बहुत अहम हैं, क्योंकि वे पूरे यूरोप के सबसे आख़िरी पेगन थे।

> **"पेगन" का मतलब समझ लीजिए — यह शब्द आगे बार-बार आएगा।** पेगन उन लोगों को कहा जाता है जो ईसाई, इस्लाम या यहूदी धर्म से पहले के पुराने धर्मों को मानते थे। आम तौर पर ये लोग एक नहीं, बल्कि कई देवताओं को मानते थे और प्रकृति (पेड़, नदी, सूरज, बिजली) की पूजा करते थे। इस किताब में जब भी "पेगन" आए, उसका मतलब यही समझिए — पुराने, प्रकृति वाले धर्मों को मानने वाले लोग।

बाल्ट लोगों ने अपना पुराना (पेगन) धर्म आधिकारिक रूप से 1387 ईस्वी तक बनाए रखा। यह रोम के ईसाई बनने के एक हज़ार साल से भी ज़्यादा बाद की बात है — यानी इतने लंबे समय तक उन्होंने नया धर्म नहीं अपनाया। बाल्ट लोगों का मुख्य देवता पेरकुनास था — पेरुन और थोर की ही तरह एक और गर्जना का देवता। वही ख़याल, बस नाम अलग।

एक अहम बात पर ग़ौर कीजिए

आपने ध्यान दिया अभी क्या हुआ? लगभग हर यूरोपीय जाति के पास एक गर्जना का देवता था। नॉर्स में थोर। स्लाव में पेरुन। बाल्ट में पेरकुनास। यूनानियों में ज़ीउस। रोमनों में जुपिटर। भाषा को जाँचने वाले विद्वानों ने इन सब नामों का अध्ययन किया और पाया कि ये सब एक ही बहुत पुराने मूल शब्द से निकले हैं। इससे पता चलता है कि ये सारे लोग एक ही साझे पुरखे वाली सभ्यता से उतरे थे। उस सबसे पुरानी साझी सभ्यता को विद्वान "प्रोटो इंडो-यूरोपियन" कहते हैं, जो लगभग 6,000 साल पहले उस इलाक़े में रहती थी जो आज यूक्रेन और दक्षिणी रूस है।

इसका सीधा मतलब यह है कि प्रकृति-पूजा कोई इधर-उधर बिखरी हुई, अजीब, छोटी-सी स्थानीय बात नहीं थी। यह तो सभ्यताओं के एक पूरे बड़े परिवार का मूल धर्म था, जो भारत से लेकर दूर आयरलैंड तक फैला हुआ था। दिलचस्प बात — हिंदू देवता इंद्र भी गर्जना और बारिश से जुड़े देवता हैं। यानी जब कोई इंद्र के आगे प्रार्थना करता है, तो वह असल में थोर के एक रिश्तेदार-जैसे देवता के आगे ही प्रार्थना कर रहा होता है। जब आप बारिश का जश्न मनाते हैं, तो आप वही कर रहे होते हैं जो आपके बहुत पुराने पुरखे हज़ारों साल पहले करते थे।

पक्के आँकड़े

आइए, मैं आपको कुछ असली आँकड़े (गिनती के पक्के सबूत) देता हूँ, ताकि आप समझ सकें कि हम कितनी बड़ी चीज़ की बात कर रहे हैं।

अकेले ब्रिटेन (आज का इंग्लैंड वाला देश) में, ज़मीन खोदकर पुरानी चीज़ें ढूँढने वाले विद्वानों — यानी पुरातत्व-वैज्ञानिकों — को 600 से ज़्यादा ऐसे पवित्र कुएँ मिले हैं, जो ईसाई धर्म के क़ब्ज़े में आने से पहले पेगन पूजा की जगहें थीं। इनमें से बहुत-से कुएँ आज भी मौजूद हैं। आप आज भी जाकर उन्हें देख सकते हैं। बाद में उन पर ईसाई संतों के नाम चिपका दिए गए, पर पानी और रस्में वही पुरानी हैं। लोग आज भी ख़ुशक़िस्मती के लिए उनमें सिक्के डालते हैं — और यह असल में एक पुराना पेगन चढ़ावा ही है।

स्वीडन में, उप्साला नाम की जगह पर एक बहुत बड़ा पेगन मंदिर था। आडम ऑफ़ ब्रेमेन नाम के एक जर्मन ईसाई लेखक ने 1070 ईस्वी में इसका विस्तार से वर्णन किया। हर नौ साल बाद वहाँ एक बड़ा त्योहार होता था, जिसमें पशुओं की बलि दी जाती थी। आडम ने इसके बारे में डर के साथ, पर साथ ही हैरानी के साथ भी लिखा — क्योंकि उसके ज़माने तक ज़्यादातर यूरोप ईसाई बन चुका था, और फिर भी यह पेगन मंदिर खड़ा था। आख़िरकार इसे 1000 के दशक के आख़िर में ईसाई स्वीडिश राजाओं ने ढहा दिया।

अब वह हिसाब जो आपका मन हिला देगा। 30 ईस्वी से पहले धरती पर कहीं भी ईसाई धर्म था ही नहीं। और यूरोप पूरी तरह ईसाई सिर्फ़ लगभग 1400 ईस्वी तक जाकर बना। यानी यूरोप में ईसाई धर्म, इलाक़े के हिसाब से, सिर्फ़ लगभग 600 से 1,000 साल तक ही सबसे बड़ा धर्म रहा है। पर इसके मुक़ाबले, उन्हीं धरतियों पर प्रकृति-पूजा कम-से-कम 4,000 से 6,000 साल तक सबसे बड़ा धर्म रही। मतलब साफ़ है — यूरोप जितने अरसे तक ईसाई रहा है, उससे कहीं ज़्यादा लंबे अरसे तक पेगन रहा। यानी इस मामले में नई चीज़ हम हैं; वे पुरानी चीज़ थे।

II.

लोग पहले ज़माने में प्रकृति की पूजा क्यों करते थे

आज के लोग कभी-कभी पुराने धर्मों पर हँसते हैं। उन्हें लगता है कि प्रकृति की पूजा करना बेवक़ूफ़ी है। भला कोई पेड़ के आगे प्रार्थना क्यों करेगा? पर यह सोच ग़लत है। और यह ग़लती इसलिए होती है क्योंकि हम वह दुनिया समझ ही नहीं पाते जिसमें ये लोग रहते थे।

आइए, मैं इसे ऐसे समझाऊँ कि बात आसानी से पल्ले पड़ जाए। आज, जब आपके फ़ोन की बैटरी कम होती है, आप उसे दीवार के सॉकेट में लगा देते हैं। आप यह नहीं सोचते कि बिजली असल में कहाँ से आ रही है। जब आपको भूख लगती है, आप फ़्रिज खोल लेते हैं या मोबाइल ऐप पर खाना मँगवा लेते हैं। आप यह नहीं सोचते कि वह अनाज किसने उगाया। जब आप नल खोलते हैं, पानी अपने आप आ जाता है। आप उस नदी के बारे में नहीं सोचते जहाँ से वह पानी आया। आधुनिक ज़िंदगी की पूरी बनावट ही इस बात पर टिकी है कि प्रकृति को मशीनों के पीछे छिपा दिया जाए, ताकि वह सीधे हमें न दिखे।

पर उस पुराने ज़माने में कोई मशीन नहीं थी। प्रकृति हर एक दिन सीधे आपकी आँखों के सामने खड़ी होती थी।

अगर बारिश न आती, तो आप मर जाते

कल्पना कीजिए कि आप 200 ईस्वी में मध्य यूरोप के एक किसान हैं। आपके पास एक छोटा-सा खेत है। आप गेहूँ और जौ उगाते हैं। आपके पास कुछ गायें और कुछ मुर्ग़ियाँ हैं। आपका पूरा परिवार सिर्फ़ इसी पर टिका है जो आप उगा पाते हैं। कोई बड़ी दुकान या बाज़ार नहीं जहाँ से खाना ख़रीद लें। फ़सल मारी जाए तो खाना भेजने वाली कोई सरकार नहीं। कोई दवाई नहीं। कोई बिजली नहीं। अगर बारिश ठीक मौसम में न आए, तो आपकी फ़सल सूख कर मर जाती है। फ़सल मर जाए, तो आप भूखे रह जाते हैं। भूखे रह जाएँ, तो आप मर जाते हैं। बात बस इतनी ही सीधी है।

अब कल्पना कीजिए कि आपकी ज़िंदगी हज़ारों साल तक, पीढ़ी-दर-पीढ़ी, बिल्कुल ऐसी ही रही है। तो ज़ाहिर है, आप बारिश की पूजा करेंगे। बारिश सचमुच आपके लिए ज़िंदगी और मौत का सवाल है। जब बारिश ठीक वक़्त पर आती है, आपका परिवार पेट भर खाता है। जब नहीं आती, आपके बच्चे जाड़ों में भूख से मर जाते हैं। तो ज़ाहिर है आप बारिश के इर्द-गिर्द रस्में बनाएँगे। ज़ाहिर है आप सोचेंगे कि इसके पीछे कोई देवता है जो इसे चलाता है। भला आप और सोचेंगे भी क्या?

प्रकृति कोई बेजान साधन नहीं थी। वह एक साथी थी।

इंग्लैंड की ब्रिस्टल यूनिवर्सिटी में पढ़ाने वाले इतिहासकार रोनाल्ड हटन ने 1991 में एक किताब लिखी — *द पेगन रिलीजन्स ऑफ़ द एंशिएंट ब्रिटिश आइल्स* (यानी "पुराने ब्रिटेन के पेगन धर्म")। यह इस विषय की सबसे

भरोसेमंद किताब मानी जाती है। हटन ने अपनी पूरी ज़िंदगी यही पढ़ने-समझने में लगाई कि पुराने ब्रिटिश पेगनों के बारे में — जिनमें सेल्ट और ड्रूइड शामिल हैं — हम असल में पक्का क्या-क्या जानते हैं।

उसकी एक मुख्य बात यह है कि पुराने पेगनों के लिए प्रकृति कोई ऐसी चीज़ नहीं थी जिसे निचोड़कर, इस्तेमाल करके फेंक दिया जाए। उनके लिए वह एक साथी थी, जिसका आदर करना ज़रूरी था। उनका मानना था — अगर आप ग़लत पेड़ काट देंगे, तो जंगल की आत्मा नाराज़ हो जाएगी। अगर आप किसी पवित्र झील से ज़रूरत से ज़्यादा मछलियाँ पकड़ लेंगे, तो पानी का देवता आपको सज़ा देगा। अगर आप ठीक से शुक्राने (धन्यवाद) की प्रार्थना किए बिना कोई हिरन मार देंगे, तो हो सकता है साल भर आपको कोई हिरन हाथ ही न लगे।

यह सिर्फ़ अंधविश्वास नहीं था। ध्यान से देखें तो यह असल में एक शुरुआती ज़माने की पर्यावरण-रक्षा व्यवस्था की तरह काम करता था। (पर्यावरण यानी हमारे चारों ओर की प्रकृति — हवा, पानी, जंगल, जानवर।) चूँकि लोग मानते थे कि प्रकृति देवताओं और आत्माओं से भरी है, इसलिए वे उससे सँभलकर बरतते थे। वे न तो अंधाधुंध जंगल काटते थे, न नदियों को गंदा करते थे — क्योंकि उन्हें डर रहता था कि अगर देवता नाराज़ हो गए तो क्या होगा।

ड्रूइड वे नहीं थे जो आज लोग समझते हैं

ड्रूइडों की बात चली है, तो आइए एक मशहूर ग़लतफ़हमी साफ़ कर दूँ। (ड्रूइड सेल्ट लोगों के पुजारी और विद्वान होते थे।) फ़िल्में ड्रूइडों को सफ़ेद चोग़े पहने ऐसे जादूगरों की तरह दिखाती हैं जो मंत्र पढ़कर जादू करते हैं। पर जो रोमन लेखक असल में उनसे ख़ुद मिले थे, उनके मुताबिक़ असलियत इससे काफ़ी अलग है।

जूलियस सीज़र — रोम का एक बहुत बड़ा सेनापति और शासक — ने ख़ुद लगभग 50 ई.पू. में अपनी किताब *गॉलिक वॉर्ज़* में ड्रूइडों के बारे में लिखा। सीज़र उस वक़्त गॉल (आज के फ़्रांस का इलाक़ा) के सेल्ट क़बीलों से लड़ रहा था, सो उनके पास उन्हें बुरा दिखाने की पूरी वजह थी। फिर भी वह जो बताता है वह दिलचस्प है। वह कहता है कि ड्रूइड सेल्ट समाज का पढ़ा-लिखा वर्ग थे। वे सिर्फ़ पुजारी ही नहीं थे — वे जज (न्याय करने वाले), अध्यापक, हकीम (इलाज करने वाले) और इतिहासकार भी थे। ड्रूइड बनने में 20 साल की पढ़ाई लगती थी। उन्हें ढेर सारी कविताएँ, क़ानून और खगोल-विज्ञान (तारों-ग्रहों की जानकारी) ज़बानी याद रखनी पड़ती थी।

सीज़र ने यह भी कहा कि ड्रूइड अपनी सीखें जान-बूझकर लिखते नहीं थे। वे सब कुछ ज़बानी याद करवाना चाहते थे, क्योंकि उनका मानना था कि लिखने की आदत से दिमाग़ की याददाश्त कमज़ोर पड़ जाती है। यह बात पूरी तरह सच है या सीज़र बस अपनी रोमन अकड़ दिखा रहा है, यह हम पक्के तौर पर कभी नहीं जान पाएँगे। पर मूल नुक़्ता यह है — पुराने धर्म बेवक़ूफ़ नहीं थे। उनके पास गहरी और बारीक परंपराएँ थीं। उनके पास सयाने लोग थे जो दशकों तक पढ़ते थे। उनके पास अपना दर्शन था, खगोल-विज्ञान था, और क़ानून था।

> *"ड्रूइड सेल्ट समाज का बौद्धिक (दिमाग़ी काम करने वाला) वर्ग थे, जिनका दर्जा योद्धा-वर्ग के बराबर था, और जो पुजारी, जज, दार्शनिक और हकीम — सबका काम करते थे।"*
>
> *— बैरी कनलिफ़, द एंशिएंट सेल्ट्स, 1997। कनलिफ़ सेल्ट इतिहास के सबसे बड़े पुरातत्व-वैज्ञानिकों में से एक हैं।*

तो फिर यह सब ख़त्म क्यों हुआ?

अगर पुराने धर्म इतने गहरे और इतने दूर-दूर तक फैले हुए थे, तो फिर वे ग़ायब क्यों हो गए? आज अगर आप किसी से कहें कि आप पेड़ के आगे प्रार्थना करते हैं, तो वह आपको पागल क्यों समझेगा?

यही असली सवाल है। और इसका जवाब वह नहीं है जो ज़्यादातर लोग समझते हैं। पुराने धर्म इसलिए नहीं मरे कि ईसाई धर्म किसी तरह उनसे बेहतर था। वे इसलिए भी नहीं मरे कि लोगों को कोई भीतर से रोशनी मिल गई और उन्होंने "सच" देख लिया। वे मरे — राजनीति की वजह से, शादी की चालों की वजह से, फ़ौजी जीत की वजह से, और कुछ मामलों में तो सीधे-सीधे सामूहिक क़त्ल की वजह से। आइए, मैं आपको दिखाता हूँ कि यह असल में कैसे हुआ।

III.

रेगिस्तान से आए एक धर्म ने जंगलों के महाद्वीप को कैसे अपने अधीन किया

ईसाई धर्म जूडिया नाम की एक जगह पर शुरू हुआ, जो आज के इज़राइल और फ़िलिस्तीन का हिस्सा है (यह इलाक़ा सूखा और रेगिस्तानी है — इसलिए अध्याय का नाम "रेगिस्तान से आया धर्म")। यह यहूदी लोगों के बीच पैदा हुआ। (यहूदी एक बहुत पुरानी जाति और धर्म के लोग हैं; उनका धर्म एक ही ईश्वर को मानता है।) ईसा मसीह ख़ुद यहूदी थे। उनके सारे शुरुआती चेले (अनुयायी) भी यहूदी थे। शुरू में, ईसाई धर्म बस यहूदियों का एक छोटा-सा पंथ था — कई पंथों में से एक। 50 ईस्वी में कोई अंदाज़ा भी नहीं लगा सकता था कि यह नन्हा-सा गुट एक दिन पूरे यूरोप पर छा जाएगा।

लगभग 300 साल तक, ईसाई धर्म छोटा ही रहा, और रोमन राज उसे अक्सर सताता रहा (यानी ईसाइयों को परेशान और दंडित करता रहा)। ईसाइयों को कभी-कभी अखाड़े में शेरों के आगे फेंक दिया जाता था। उन्हें पूजा करने के लिए ज़मीन के नीचे की सुरंगों में छिपना पड़ता था। फिर भी वे धीरे-धीरे बढ़ते रहे — ख़ास तौर पर रोमन राज के ग़रीबों और ग़ुलामों के बीच। क्यों? क्योंकि ईसाई धर्म वह चीज़ देता था जो पुराने धर्म नहीं देते थे। वह हर किसी को — सिर्फ़ राजाओं और बहादुरों को नहीं, बल्कि आम और कमज़ोर इंसान को भी — मौत के बाद एक बेहतर जीवन का भरोसा देता था। जिस ग़ुलाम के पास इस ज़िंदगी में कुछ नहीं था, उसके लिए यह बहुत बड़ी बात थी।

जिस दिन सब कुछ बदल गया: 28 अक्तूबर, 312 ईस्वी

यह वह तारीख़ है जो आपको याद रखनी चाहिए — 28 अक्तूबर, 312 ईस्वी। इस दिन, कांस्टैंटाइन नाम के एक रोमन सम्राट (राजा) ने मैक्सेंटियस नाम के एक और रोमन सेनापति के ख़िलाफ़ युद्ध लड़ा। दोनों पूरे रोमन राज के अकेले मालिक बनना चाहते थे। यह लड़ाई मिल्वियन पुल नाम की जगह पर हुई, रोम शहर के बिल्कुल बाहर।

कांस्टैंटाइन जीत गया। वह सम्राट बन गया। पर अगले 2,000 साल के इतिहास के लिए जो हिस्सा सबसे अहम था, वह यह है। ईसाई लेखक यूसीबियस के मुताबिक़ — जो कांस्टैंटाइन को निजी तौर पर जानता था और बाद में उस पर लिखा — कांस्टैंटाइन ने युद्ध से पहले एक "दर्शन" देखा (यानी कोई दिव्य नज़ारा दिखने का दावा)। उसने कहा कि उसे आसमान में एक सलीब दिखी, जिस पर लिखा था *In Hoc Signo Vinces* — यह लातीनी भाषा का वाक्य है जिसका मतलब है "इस निशान के साथ, तू जीतेगा"। उसने अपने सिपाहियों की ढालों पर ईसाई निशान पुतवा दिए। वह युद्ध जीत गया। और इस तरह वह पहला ईसाई सम्राट बना।

अब, क्या यह दर्शन सचमुच हुआ था? इतिहासकार इस पर बहस करते हैं। कुछ कहते हैं यह सच्चा धार्मिक अनुभव था। कुछ कहते हैं कांस्टैंटाइन ने इसे बाद में अपनी राजनीति के लिए गढ़ लिया था। कुछ कहते हैं

यूसीबियस ने पूरी कहानी को बढ़ा-चढ़ाकर बताया। हम पक्के तौर पर कभी नहीं जान पाएँगे। पर जिस बात पर कोई बहस नहीं है, वह यह है कि कांस्टैंटाइन ने आगे क्या किया।

मिलान का फ़रमान, 313 ईस्वी

("फ़रमान" यानी राजा का जारी किया हुआ हुक्म या क़ानून।) 313 ईस्वी में, अपनी जीत के सिर्फ़ कुछ महीने बाद, कांस्टैंटाइन ने "मिलान का फ़रमान" नाम का एक क़ानून जारी किया। इस क़ानून ने ईसाई धर्म को पूरे रोमन राज में क़ानूनी (जायज़) बना दिया। इससे पहले, ईसाइयों को पकड़कर मारा जा सकता था। इसके बाद, वे खुलकर पूजा कर सकते थे।

पर कांस्टैंटाइन यहीं नहीं रुका। उसने ईसाई धर्म को ख़ास फ़ायदे देने शुरू कर दिए। ईसाई पादरियों (धर्म-गुरुओं) को कोई कर (टैक्स) नहीं देना पड़ता था। राज ने गिरजाघर बनाने के लिए पैसा दिया। कांस्टैंटाइन ख़ुद भी ईसाई बन गया — हालाँकि इतिहासकार बहस करते हैं कि वह दिल से कितना मानता था, क्योंकि वह ईसाई बनने के बाद भी सालों तक सूरज-देवता "सोल इनविक्टस" को पूजता रहा। पर राजनीति के लिहाज़ से इससे फ़र्क़ नहीं पड़ता था। असली बात यह थी कि अचानक ईसाई हो जाना रोमन राज में आगे बढ़ने का रास्ता बन गया।

कल्पना कीजिए कि आप 320 ईस्वी में एक समझदार नौजवान रोमन हैं। आप सरकारी नौकरी चाहते हैं। आप किसी अमीर घराने में शादी करना चाहते हैं। आप चाहते हैं कि आपके बेटे आगे बढ़ें। आप इर्द-गिर्द नज़र दौड़ाते हैं और देखते हैं — सम्राट ख़ुद ईसाई है। नई सरकार ईसाइयों से भरी है। कर-छूट ईसाई पादरियों को मिलती है। बड़ी-बड़ी कुर्सियाँ ईसाइयों को मिल रही हैं। तो आप क्या करेंगे? आप ईसाई बन जाएँगे — किसी गहरी आस्था की वजह से नहीं, बल्कि इसलिए कि यह आगे बढ़ने का समझदारी भरा फ़ैसला है। और अगले 100 साल तक पूरे रोमन राज में बिल्कुल यही हुआ।

थेस्सालोनिका का फ़रमान, 380 ईस्वी

कांस्टैंटाइन के साठ-सत्तर साल बाद, 380 ईस्वी में, थियोडोसियस पहला नाम का एक सम्राट इससे भी आगे चला गया। उसने "थेस्सालोनिका का फ़रमान" जारी किया, जिसने ईसाई धर्म को पूरे रोमन राज का आधिकारिक (सरकारी) धर्म बना दिया। और वह यहीं नहीं रुका — उसने पुराने पेगन धर्मों को मानना ही ग़ैर-क़ानूनी (गुनाह) घोषित कर दिया।

391 ईस्वी में, थियोडोसियस ने सारे पेगन मंदिर बंद करने का हुक्म दिया। ईसाई भीड़ों को पेगन पूजा-स्थल तोड़ने की खुली छूट दे दी गई। ओलंपिक खेल — जो 1,000 साल से ज़्यादा समय से ज़ीउस देवता का धार्मिक त्योहार रहे थे — पेगन होने की वजह से बंद कर दिए गए। ये खेल फिर 1896 तक दोबारा नहीं हुए। (आज के ओलंपिक खेल इसी पुरानी परंपरा का लौटा हुआ रूप हैं।)

415 ईस्वी में, हाइपेशिया नाम की एक मशहूर पेगन महिला दार्शनिक को अलेक्ज़ांद्रिया शहर (आज मिस्र में) में बेरहमी से मार दिया गया। वह एक बहुत होनहार गणितज्ञ और खगोल-वैज्ञानिक थी, जो अलेक्ज़ांद्रिया की मशहूर लाइब्रेरी में दर्शन पढ़ाती थी। एक ईसाई भीड़ ने — शायद किसी स्थानीय बिशप (बड़े पादरी) के भड़काने पर — उसे उसकी बग्घी से खींच लिया, पीट-पीटकर मार डाला, और उसके शरीर के टुकड़े कर

दिए। यह घटना कई पुराने सबूतों में दर्ज है — उनमें ईसाई लेखक सुकरातीज़ स्कॉलास्टिकस भी शामिल है, जिसने इसके बारे में शर्म के साथ लिखा। हाइपेशिया की मौत को अक्सर पुरानी पेगन दुनिया के अंत का प्रतीक माना जाता है।

> *"उसके ज़माने में, दार्शनिकों और वैज्ञानिकों को गलियों में भीड़ें मार सकती थीं — और यूनान तथा रोम का पुराना ज्ञान धीरे-धीरे अँधेरे की ओर खिसकने लगा।"*
>
> *— एडवर्ड जे. वॉट्स, हाइपेशिया: द लाइफ़ एंड लीजेंड ऑफ़ एन एंशिएंट फ़िलॉसफ़र, 2017*

शाही शादी की चाल

रोमन राज के अंदर तो धर्म-परिवर्तन सम्राटों ने ज़ोर लगाकर करवाया। ("धर्म-परिवर्तन" यानी एक धर्म छोड़कर दूसरा अपनाना।) पर रोमन राज के बाहर, जर्मन, सेल्ट और स्लाव क़बीलों की धरतियों पर, ईसाई धर्म को फैलने के लिए कोई और रास्ता ढूँढना पड़ा। उसने जो रास्ता अपनाया, वह दिलचस्प है। यह कोई छिपी हुई साज़िश नहीं थी। यह एक खुली, दर्ज की हुई शादी की चाल थी, जिसे चर्च ने सैकड़ों साल तक बार-बार इस्तेमाल किया।

यह चाल ऐसे काम करती थी। चर्च किसी ईसाई राज्य की एक ईसाई राजकुमारी की शादी किसी पेगन राज्य के पेगन राजा से करवा देता था। राजकुमारी अपने साथ अपना ईसाई पादरी लेकर जाती थी। फिर वह सालों तक अपने पति पर धीरे-धीरे असर डालती रहती थी। उसके बच्चे होते, और वह उन्हें ईसाई बनाकर पालती। आख़िरकार राजा ख़ुद ईसाई बन जाता। और जब राजा धर्म बदल लेता, तो पूरा राज्य उसके साथ बदल जाता — क्योंकि उन दिनों राजा का धर्म ही सारी जनता का धर्म माना जाता था।

मिसाल पहली: क्लोविस और क्लोटिल्ड, 496 ईस्वी। क्लोविस फ़्रैंक क़बीले का राजा था — वही क़बीला जो आगे चलकर फ़्रांस देश बना। वह एक ज़बरदस्त योद्धा और पेगन था। उसकी पत्नी क्लोटिल्ड एक ईसाई राजकुमारी थी। क्लोटिल्ड सालों तक क्लोविस पर ज़ोर डालती रही कि वह धर्म बदल ले। क्लोविस ने मना कर दिया। फिर एक दिन, 496 ईस्वी में, क्लोविस अलेमानी नाम के एक और जर्मन क़बीले से युद्ध हार रहा था। हताशा में, उसने ईसाई ईश्वर से प्रार्थना की — यह वादा करते हुए कि अगर वह जीत गया तो ईसाई बन जाएगा। वह युद्ध जीत गया। उसने ईसाई धर्म अपना लिया। और उसके साथ उसके 3,000 सिपाहियों को क्रिसमस के दिन "बपतिस्मा" दिया गया।

> **"बपतिस्मा" क्या है?** बपतिस्मा ईसाई बनने की एक रस्म है। इसमें व्यक्ति पर पानी डाला जाता है (या उसे पानी में डुबाया जाता है) — इसका मतलब होता है कि अब वह औपचारिक रूप से ईसाई हो गया। जब किताब में किसी को "बपतिस्मा दिया गया" आए, तो समझिए उसे ईसाई बना दिया गया।

यह घटना ग्रेगरी ऑफ़ टूर्ज़ ने दर्ज की — एक फ़्रेंच बिशप, जिसने 500 के दशक के आख़िर में *हिस्ट्री ऑफ़ द फ़्रैंक्स* नाम की किताब लिखी।

मिसाल दूसरी: एथेलबर्ट और बर्था, लगभग 597 ईस्वी। एथेलबर्ट केंट का राजा था (केंट इंग्लैंड का दक्षिण-पूर्वी हिस्सा है)। वह एक पेगन था। उसने बर्था नाम की एक ईसाई राजकुमारी से शादी की। बर्था अपने साथ लीउडहार्ड नाम का एक बिशप लेकर आई। रोम में बैठे पोप ग्रेगरी द ग्रेट को इस शादी की ख़बर लगी,

और उसे इसमें एक मौक़ा दिखा। (पोप कैथोलिक ईसाइयों का सबसे बड़ा धर्म-गुरु होता है।) उसने 597 ईस्वी में सीधे एथेलबर्ट के दरबार में आगस्टीन नाम का एक मिशनरी (धर्म फैलाने वाला) भेजा। कुछ ही सालों में एथेलबर्ट ईसाई बन गया। और इस तरह इंग्लैंड ने ईसाई बनने की अपनी लंबी यात्रा शुरू कर दी।

मिसाल तीसरी: मीश्को पहला और दोब्रावा, 966 ईस्वी। मीश्को पोलैंड का पहला शासक था जिसके बारे में हमें पता है। वह एक पेगन स्लाव सरदार था। उसने दोब्रावा नाम की एक चेक ईसाई राजकुमारी से शादी की, और उसके असर में 966 ईस्वी में ईसाई बन गया। पोलैंड तब से ईसाई है। यह तारीख़ पोलैंड के लोगों के लिए इतनी अहम है कि इसे कभी-कभी ख़ुद पोलैंड का "जन्म-दिन" तक कहा जाता है।

मिसाल चौथी: व्लादिमीर और आन्ना, 988 ईस्वी। व्लादिमीर "कीवन रूस" नाम के राज्य का पेगन शासक था — यही राज्य आगे चलकर रूस, यूक्रेन और बेलारूस बना। उसने 988 ईस्वी में ख़ास तौर पर आन्ना से शादी करने के लिए ईसाई धर्म अपनाया, जो बाइज़ेंटाइन ईसाई सम्राट की बहन थी। उसने ईसाई धर्म का "पूर्वी ऑर्थोडॉक्स" रूप चुना — ईसाई धर्म आगे चलकर अलग-अलग शाखाओं में बँट गया था, और यही वजह है कि रूस आज तक ऑर्थोडॉक्स है, कैथोलिक नहीं। फिर उसने अपनी जनता को कीव शहर में दनीपर नदी में बपतिस्मा लेने के लिए मजबूर किया — कभी-कभी तो तलवार की नोक पर। यह घटना *रशियन प्राइमरी क्रॉनिकल* में दर्ज है, जो 1100 के दशक में भिक्षुओं ने लिखी।

> *"राजाओं का धर्म बदलना ही असली चाबी थी। जैसे ही राजा झुक जाता, पूरा राज्य उसके पीछे चल पड़ता — चाहे लोग नए धर्म को समझें या न समझें।"*
>
> *— पीटर ब्राउन, द राइज़ ऑफ़ वेस्टर्न क्रिस्टेनडम, 2003। पीटर ब्राउन ईसाई धर्म के फैलाव के सबसे बड़े इतिहासकार हैं।*

ग़ौर कीजिए, यहाँ असल में हो क्या रहा है। इन राज्यों के आम गाँव वाले इसलिए ईसाई नहीं बने कि किसी ने उन्हें समझाया और उन्हें भीतर से कोई रोशनी मिल गई। वे इसलिए बदले कि उनके राजा ने शादी कर ली और अपना मन बदल लिया — और उनके पास राजा के पीछे चलने के सिवा कोई चारा नहीं था। यह कोई हवा-हवाई साज़िश की कहानी नहीं है। यह वही है जो असल में हुआ — और इसे ख़ुद उन ईसाई लेखकों ने लिखा है जो इस चाल पर गर्व करते थे।

IV.

ज़बरदस्ती धर्म बदलवाने का असली इतिहास

शादी वाली चाल कुछ राज्यों में तो काम कर गई। पर बहुत-से पेगन लोगों ने अपने पुराने देवता छोड़ने से साफ़ इनकार कर दिया। जब समझाने-बुझाने से बात नहीं बनी, तो ईसाई चर्च और ईसाई राजा हिंसा (मार-काट) पर उतर आए। इतिहास के इस हिस्से के बारे में ज़्यादा बात नहीं होती, क्योंकि यह सुनने में बहुत असहज है। पर यह पूरी तरह दर्ज है — झूठ नहीं है।

शार्लमेन और सैक्सन युद्ध: 32 साल का सामूहिक क़त्ल

शार्लमेन यूरोप के इतिहास की सबसे ज़्यादा सराही जाने वाली हस्तियों में से एक है। फ़्रांस और जर्मनी में जगह-जगह उसकी मूर्तियाँ लगी हैं। उसे कभी-कभी "यूरोप का पिता" तक कहा जाता है। 800 ईस्वी में पोप ने उसे सम्राट का ताज पहनाया और उसने "पवित्र रोमन साम्राज्य" की नींव रखी। पर जिस बात पर कम चर्चा होती है वह यह है कि उसने अपना यह साम्राज्य बनाया कैसे। उसने इसे 32 साल तक सैक्सन लोगों को मिटाने की कोशिश करके बनाया।

सैक्सन एक जर्मन पेगन जाति थी, जो आज के उत्तरी जर्मनी में रहती थी। वे पुराने देवताओं को पूजते थे। उनकी सबसे पवित्र धार्मिक चीज़ एक बहुत बड़ा लकड़ी का खंभा था, जिसे "इरमिनसुल" कहते थे। वे मानते थे कि यही खंभा आसमान को थामे खड़ा है। 772 ईस्वी में, शार्लमेन सैक्सन इलाक़े में घुसा, इरमिनसुल को ढूँढा, और उसे काट गिराया। समझने के लिए ऐसे सोचिए — जैसे कोई किसी सबसे बड़े पवित्र मंदिर या मस्जिद में घुसकर उसे बुलडोज़र से ढहा दे। हम धार्मिक अपमान के इसी स्तर की बात कर रहे हैं।

सैक्सनों ने पलटकर मुक़ाबला किया। अगले तीन दशकों तक लगातार युद्ध चलता रहा। शार्लमेन एक इलाक़ा जीतता, वहाँ के लोगों को ज़बरदस्ती बपतिस्मा (यानी ज़बरदस्ती ईसाई) करवाता, और फिर आगे बढ़ जाता। जैसे ही वह जाता, लोग फिर अपने पुराने पेगन धर्म पर लौट आते। वह वापस आता और दोबारा वही करता। हर बार यह और ज़्यादा ख़ूनी होता गया।

वर्डन का सामूहिक क़त्ल, 782 ईस्वी

782 ईस्वी में, एक बड़ी सैक्सन बग़ावत के बाद, शार्लमेन का सब्र टूट गया। वर्डन नाम की जगह पर, उसने एक ही दिन में 4,500 सैक्सन क़ैदियों को मौत के घाट उतारने का हुक्म दिया। उनके एक-एक करके सिर काट दिए गए। यह घटना *रॉयल फ़्रैंकिश एनल्ज़* में दर्ज है, जो ख़ुद शार्लमेन के अपने दरबार का आधिकारिक इतिहास था। यानी उसके अपने ही लेखकों ने यह लिखा। वे इस पर शर्मिंदा तक नहीं थे — वे इसे ईसाई धर्म की जीत मानते थे।

कुछ आधुनिक इतिहासकारों ने 4,500 के पक्के आँकड़े पर सवाल उठाए हैं, और कहा है कि असली गिनती शायद इससे कम रही होगी। पर मान लीजिए हम इसे आधा भी कर दें — तब भी यह सिर्फ़ पेगन होने के "गुनाह" में निहत्थे क़ैदियों का सामूहिक क़त्ल ही था।

सैक्सन क़ानून, 785 ईस्वी

785 ईस्वी में, शार्लमेन ने *Capitulatio de partibus Saxoniae* नाम का एक क़ानून जारी किया — इसका मतलब है "सैक्सन इलाक़े के बारे में हुक्मनामा"। यह कोई कहानी नहीं, एक असली दस्तावेज़ है; आप आज भी इसे इंटरनेट पर पढ़ सकते हैं। यह अब तक बने सबसे सख़्त धार्मिक क़ानूनों में से एक है।

इस क़ानून के तहत, नीचे लिखे काम करने पर मौत की सज़ा दी जाती थी:

- बपतिस्मा लेने (यानी ईसाई बनने) से इनकार करना
- "लेंट" के दौरान माँस खाना — (लेंट ईसाइयों का एक उपवास-काल है, जिसमें वे कुछ हफ़्तों तक कुछ चीज़ें, ख़ास तौर पर माँस, नहीं खाते)
- मुर्दों को ईसाई क़ब्रिस्तान में दफ़नाने के बजाय पेगन तरीक़े से जलाना
- भीतर से पेगन रहते हुए, ऊपर-ऊपर बपतिस्मा लेने का दिखावा करना
- किसी ईसाई पादरी या बिशप को मार देना — चाहे ग़लती से ही क्यों न हो
- पेगन तरीक़े से कोई बलि देना

ज़रा सोचिए इसका मतलब क्या है। मान लीजिए आप एक सैक्सन किसान हैं जो चुपके-चुपके अब भी थोर को मानता है, और आप अपने पिता का अंतिम संस्कार पुराने तरीक़े से (जलाकर) करना चाहते हैं — तो शार्लमेन आपको मरवा देता। यह कोई नरम, समझाने वाला धर्म-प्रचार नहीं था। यह सीधे-सीधे धर्म के नाम पर फैलाया गया आतंक था।

> *"सैक्सनों के ख़िलाफ़ शार्लमेन के युद्ध, यूरोप के इतिहास में ज़बरदस्ती धर्म बदलवाने की सबसे ख़ूनी घटनाओं में गिने जाते हैं।"*
>
> *— अलेसांद्रो बार्बेरो, शार्लमेन: फ़ादर ऑफ़ अ कॉन्टिनेंट, 2004। बार्बेरो एक इतालवी इतिहासकार हैं जो मध्यकालीन यूरोप के माहिर हैं।*

उत्तरी धर्मयुद्ध, 1147 से 1410

> **"धर्मयुद्ध" (क्रूसेड) क्या है?** धर्मयुद्ध उन बड़ी फ़ौजी मुहिमों को कहते हैं जो ईसाई चर्च ने धर्म के नाम पर लड़ीं। ज़्यादातर लोग "पवित्र भूमि" (येरूशलम के इलाक़े) वाले धर्मयुद्धों के बारे में जानते हैं। पर "उत्तरी धर्मयुद्ध" यूरोप के उत्तर में, ख़ास तौर पर बचे-खुचे पेगन लोगों को मिटाने के लिए लड़े गए — इनके बारे में आज लगभग किसी को पता नहीं।

उत्तरी धर्मयुद्ध ईसाई फ़ौजी मुहिमें थीं, जो लगभग 300 साल तक चलीं। इनका साफ़ मक़सद था — यूरोप में बचे आख़िरी पेगन लोगों को ख़त्म करना। निशाने पर थे पुराने प्रशियाई, लिथुआनियाई, एस्टोनियाई,

लिवोनियाई और बाल्टिक तथा फ़िन्निक इलाक़े के दूसरे लोग।

मार-काट करने वाली मुख्य ताक़त "ट्यूटॉनिक नाइट्स" नाम का एक संगठन था। ये जर्मन ईसाई योद्धा-भिक्षु थे — यानी ऐसे लोग जो धार्मिक भी थे और लड़ाके भी। उनका अपना एक राज्य था, अपनी फ़ौज थी, और अपने क़िले थे। पोप ने उनकी इन लड़ाइयों को "पवित्र" कहकर आशीर्वाद दिया। यूरोप में कहीं से भी कोई योद्धा बाल्टिक आ सकता था, पेगनों को मार सकता था, और बदले में चर्च से अपने पाप माफ़ करवा सकता था। यानी हिंसक लोगों के लिए यह एक तरह की धार्मिक सैर-सपाटा बन गई थी।

इसका नतीजा कई पूरी जातियों का सफ़ाया था। पुराने प्रशियाई, जो आज के रूस और पोलैंड के बाल्टिक तट पर रहते थे, लगभग पूरी तरह ख़त्म कर दिए गए। उनकी भाषा — "पुरानी प्रशियाई" — 1700 के दशक तक मिटकर ख़त्म हो गई; आज हमारे पास उसके सिर्फ़ कुछ छोटे दस्तावेज़ बचे हैं। आज के लातविया के लिवोनियाई लोग एक सभ्यता के तौर पर टूट-बिखर गए। एस्टोनियाई बेरहमी से जीत लिए गए, हालाँकि एक जाति के तौर पर वे बच गए।

लिथुआनिया, यूरोप का सबसे आख़िरी आधिकारिक रूप से पेगन देश, सिर्फ़ 1387 ईस्वी में बदला — और वह भी एक राजनीतिक सौदा था। लिथुआनिया के बड़े शासक योगाइला ने पोलैंड की रानी याडविगा से शादी की, और पोलैंड का राजा बनने के बदले में अपना पूरा देश ईसाई बनाने को राज़ी हो गया। गाँवों के आम लिथुआनियाई लोग उसके बाद भी सदियों तक चुपचाप अपना पुराना धर्म मानते रहे।

इतिहासकार एरिक क्रिस्टियानसन ने इस पर सबसे भरोसेमंद किताब लिखी — *द नॉर्दर्न क्रूसेड्ज़*, जो 1980 में छपी। अगर आप और गहराई से पढ़ना चाहें, तो यही किताब देखिए।

आइसलैंड: धमकी के साये में हुई एक वोटिंग

आइसलैंड शायद हमें सबसे साफ़ मिसाल देता है कि कैसे राजनीतिक दबाव ने पेगन धर्म ख़त्म किया — और वह भी बिना किसी को मारे। 1000 ईस्वी में, नॉर्वे का राजा ओलाफ़ ट्रिग्वासन चाहता था कि आइसलैंड ईसाई बन जाए। उसने आइसलैंड के कुछ बड़े लोगों को नॉर्वे में बंधक बना लिया और उन्हें मारने की धमकी दी। उसने यह भी धमकी दी कि वह आइसलैंड से सारा व्यापार बंद कर देगा — और इससे वहाँ अकाल (भुखमरी) पड़ जाता, क्योंकि आइसलैंड अपनी ज़रूरत का सामान बाहर से ही मँगाता था।

आइसलैंड की संसद, जिसे "आलथिंग" कहते थे, ने इस पर बहस की। (संसद यानी वह सभा जहाँ जनता के बड़े फ़ैसले होते हैं।) पेगन पक्ष का नेता थोरगाइर थोरकेलसन नाम का आदमी था। दोनों पक्ष उसका आदर करते थे। उन्होंने फ़ैसला उसी पर छोड़ दिया। *इसलैंडिंगाबोक* नाम की एक आइसलैंडी इतिहास-किताब (लगभग 1130 ईस्वी में लिखी) के मुताबिक़, थोरगाइर पूरा एक दिन-रात एक भारी चादर ओढ़कर लेटा रहा, और इस पर सोचता रहा।

जब वह बाहर आया, उसने अपना फ़ैसला सुनाया। आइसलैंड बाहर से, सरकारी तौर पर, ईसाई बन जाएगा। पर लोग चाहें तो अब भी घर के अंदर, चुपचाप, पुराने देवताओं को पूज सकते थे। वे अब भी घोड़े का माँस खा सकते थे (जो पेगन रस्मों से जुड़ा था)। और कुछ पुराने पेगन रिवाज भी कुछ समय तक चलते रहे। ये छूटें आगे चलकर धीरे-धीरे ख़त्म कर दी गईं, पर शुरुआती फ़ैसला एक समझौता था। इसने युद्ध टाला, क़त्लेआम

टाला। फिर भी, सच यही है कि यह बाहर से राजनीतिक और आर्थिक धमकी देकर लोगों पर थोपा गया धर्म ही था।

पैटर्न पहचानिए

आइए, अब तक की बात संक्षेप में दोहरा लें। एक हज़ार साल से ज़्यादा के अरसे में, यूरोप का ईसाई बनना कई तरीक़ों के मेल से हुआ:

पहला — रोमन राज के अंदर राजनीतिक दबाव। ईसाइयों के लिए कर-छूट और तरक़्क़ी के मौक़े, और आख़िर में पेगन धर्म पर सीधी पाबंदी।

दूसरा — शाही शादी की चाल। ईसाई राजकुमारियाँ पेगन राजाओं को बदलतीं, और फिर वे राजा अपनी जनता को भी पीछे-पीछे चलने पर मजबूर करते।

तीसरा — फ़ौजी जीत। शार्लमेन के युद्ध, उत्तरी धर्मयुद्ध, और कई छोटी मुहिमें, जहाँ पेगनों को या तो मार दिया गया या उनके सामने सिर्फ़ दो ही रास्ते रखे गए — बपतिस्मा लो (ईसाई बनो) या मरो।

चौथा — आज़ाद राज्यों पर आर्थिक और राजनीतिक दबाव, जैसे आइसलैंड को मिली धमकी।

इस पूरी कहानी में जो बात आपको लगभग कभी नहीं दिखती, वह यह है कि लोग दोनों धर्मों को सोच-समझकर, अपनी मर्ज़ी से ईसाई धर्म चुन रहे हों क्योंकि उन्हें सचमुच उस पर यक़ीन हो गया। ऐसा कभी-कभी हुआ ज़रूर — ख़ास तौर पर शुरुआती रोमन राज में कुछ अकेले लोगों के साथ। पर पूरे यूरोप का सामूहिक रूप से धर्म बदलना कोई आज़ाद चुनाव नहीं था। यह ऊपर से नीचे थोपा गया, अक्सर हिंसक रहा, और इसमें पूरे एक हज़ार साल लग गए।

V.

धर्मयुद्ध, यहूदी और वे झूठी कहानियाँ जो मरने का नाम नहीं लेतीं

अब हम उस हिस्से पर आते हैं जिसमें सबसे ज़्यादा साफ़-सफ़ाई की ज़रूरत है, क्योंकि आम लोगों में चल रही कहानी में बहुत घालमेल (उलझन) है। आइए, मैं इसे एक-एक करके सुलझाता हूँ।

झूठी कहानी: "ईसाई राजाओं ने ईसा की मौत का बदला लेने के लिए इज़राइल पर हमला किया"

धर्मयुद्ध, येरूशलम और उसके आस-पास की धरती पर क़ब्ज़ा करने के लिए लड़ी गई ईसाई फ़ौजी मुहिमों की एक कड़ी थी। (येरूशलम एक शहर है जिसे यहूदी, ईसाई और मुसलमान — तीनों पवित्र मानते हैं।) ये मुहिमें 1096 ईस्वी से 1291 ईस्वी तक चलीं। लगभग नौ बड़े धर्मयुद्ध हुए और कई छोटे।

अब वह असली बात जो ज़्यादातर लोग चूक जाते हैं। 1096 ईस्वी में जब पहला धर्मयुद्ध हुआ, उस वक़्त येरूशलम पर यहूदियों का राज नहीं था। वहाँ यहूदियों का राज तो लगभग 1,000 साल से नहीं था। उस समय वहाँ मुसलमानों का राज था — ख़ास तौर पर मिस्र वाली फ़ातिमी हुकूमत का। यानी धर्मयोद्धा असल में मुसलमानों से लड़ रहे थे, यहूदियों से नहीं। धर्मयुद्धों की आधिकारिक वजह यह थी कि जिस शहर को ईसाई पवित्र मानते थे, उसे उन मुसलमानों से वापस छीन लिया जाए जिनका वहाँ 638 ईस्वी से राज था।

सो यह आम धारणा कि "ईसाई राजाओं ने ईसा को मारने का बदला यहूदियों से लेने के लिए इज़राइल पर हमला किया" — बुनियादी तथ्यों पर ही ग़लत है। जगह ग़लत, दुश्मन का धर्म ग़लत, और समय भी ग़लत।

सच: यहूदियों को पेगनों ने निकाला था, ईसाइयों ने नहीं

अब सुनिए असल में प्राचीन इज़राइल के यहूदियों के साथ हुआ क्या था। दो बहुत बड़ी तबाहियों ने यहूदी राज को ख़त्म किया — और दोनों ही पेगन रोमन राज ने कीं, उस समय जब ईसाई धर्म के पास कोई ताक़त थी ही नहीं।

तबाही पहली: दूसरे मंदिर का विनाश, 70 ईस्वी। यहूदी लगभग सौ साल से रोमन राज के नीचे थे, जब उन्होंने 66 ईस्वी में बग़ावत कर दी। वे रोमनों के भारी करों से, और रोमन गवर्नरों के अपने धर्म के अपमान से तंग आ चुके थे, और आज़ादी चाहते थे। रोमनों ने उन्हें कुचल दिया। 70 ईस्वी की गर्मियों में, रोमन सेनापति टाइटस ने येरूशलम में घुसकर "दूसरा मंदिर" तबाह कर दिया। यह दूसरा मंदिर यहूदी धर्म का सबसे बड़ा केंद्र था — यहीं उनके पुजारी पूजा-बलि करते थे। इसका टूटना यहूदी इतिहास की सबसे दर्दनाक घटना थी — 1,900 साल बाद हुए होलोकॉस्ट तक।

> **"होलोकॉस्ट" क्या है?** होलोकॉस्ट दूसरे विश्वयुद्ध (1939–1945) के दौरान की वह घटना है जब नाज़ी जर्मनी ने योजना बनाकर लगभग साठ लाख यहूदियों को मार डाला। यह आधुनिक इतिहास की सबसे भयानक सामूहिक हत्याओं में से एक मानी जाती है। (इसका ज़िक्र किताब में आगे भी आएगा।)

हमें इस सबके बारे में पता कैसे चला? क्योंकि योसेफ़ बेन मातित्याहू नाम का एक यहूदी आदमी ख़ुद इस सब से गुज़रा। उसे रोमनों ने पकड़ लिया, उसने अपनी जान बचाने के लिए पाला बदल लिया, और यूनानी भाषा में *द ज्यूइश वॉर* नाम की किताब लिखी। उसने अपना रोमन नाम "जोसीफ़स फ़्लेवियस" रख लिया। उसकी यह किताब प्राचीन दुनिया से हमारे पास मौजूद सबसे अहम सबूतों में से एक है। यह उस घेराबंदी, भुखमरी और तबाही को पूरे ब्योरे से बताती है। लाखों यहूदी या तो मारे गए या ग़ुलाम बनाकर बेच दिए गए।

तबाही दूसरी: बार कोखबा बग़ावत, 132 से 135 ईस्वी। साठ साल बाद, यहूदियों ने फिर बग़ावत की — इस बार साइमन बार कोखबा नाम के नेता के साथ। तीन साल तक उन्होंने सचमुच रोमनों को खदेड़ दिया और एक आज़ाद यहूदी राज चलाया। फिर रोमन भारी ताक़त लेकर लौटे। रोमन इतिहासकार कैसियस डीओ — जो लगभग 80 साल बाद लिखता है — कहता है कि 5,80,000 यहूदी मारे गए और 985 गाँव तबाह किए गए। हो सकता है ये आँकड़े बढ़ा-चढ़ाकर हों, पर तबाही का पैमाना बहुत बड़ा था।

बार कोखबा के बाद, रोमन सम्राट हैड्रियन ने एक जान-बूझकर की गई बेरहमी की। उसने पूरे यहूदी सूबे का नाम जूडिया से बदलकर *सीरिया पैलेस्टीना* कर दिया — सिर्फ़ इसलिए कि यहूदी लोगों और उनकी मातृभूमि के बीच का हर रिश्ता मिटा दिया जाए। उसने यहूदियों के येरूशलम में घुसने पर भी रोक लगा दी — साल में सिर्फ़ एक दिन को छोड़कर। और जहाँ कभी यहूदियों का मंदिर था, वहाँ उसने रोमन देवता जुपिटर का मंदिर बनवा दिया।

अब यहाँ वह बात है जो आपको सचमुच समझनी चाहिए। ये दोनों तबाहियाँ — 70 ईस्वी में मंदिर का टूटना, और 135 ईस्वी में बार कोखबा वाला क़त्लेआम — पेगन रोमन सम्राटों के राज में हुईं। इस वक़्त तक तो रोम में ईसाई धर्म ख़ुद ग़ैर-क़ानूनी था। रोमनों ने यहूदी राज इसलिए तबाह नहीं किया कि वे ईसाई थे — क्योंकि वे ईसाई थे ही नहीं। उन्होंने इसलिए तबाह किया क्योंकि यहूदी बार-बार रोमन राज के ख़िलाफ़ बग़ावत करते रहे।

सो जब कोई आपसे कहे कि "ईसाई धर्म ने इज़राइल से यहूदियों का सफ़ाया किया", तो समझ लीजिए वह इतिहास उल्टा समझ रहा है। असल में रोमन पेगन धर्म ने इज़राइल से यहूदी मौजूदगी ख़त्म की। ईसाई धर्म को तो वही हालात विरासत में मिले जो पेगन धर्म पहले ही बना चुका था।

सच: ईसाइयों ने यहूदियों पर हिंसा ज़रूर की — पर यूरोप में

अब, इसके बावजूद, मैं यहाँ ईसाई धर्म की तरफ़दारी नहीं करना चाहता। सच यह है कि यूरोप के ईसाइयों ने लगभग 2,000 साल तक यहूदियों के ख़िलाफ़ भयानक हिंसा की। पर यह इज़राइल में नहीं हुई — यह यूरोप में हुई।

1096 ईस्वी के राइनलैंड क़त्लेआम। जब पहला धर्मयुद्ध तैयार हो रहा था, ग़रीब ईसाइयों, किसानों और लुटेरों की भीड़ें येरूशलम की ओर कूच करने के लिए जुटीं। रास्ते में, जर्मनी के राइनलैंड इलाक़े से गुज़रते हुए, उन्होंने वहाँ के स्थानीय यहूदी समुदायों पर हमला करने का तय कर लिया। उनका टेढ़ा तर्क यह था —

“हम ग़ैर-ईसाइयों को मारने के लिए हज़ारों मील दूर क्यों जाएँ, जब हमारे अपने शहरों में ही ग़ैर-ईसाई (यहूदी) मौजूद हैं?”

मई और जुलाई 1096 के बीच, इन भीड़ों ने जर्मनी के शहरों — वर्म्स, माइंज़, स्पायर और कोलोन — में यहूदी समुदायों पर हमला किया। आधुनिक इतिहासकारों के अंदाज़े के मुताबिक़ इन कुछ ही हफ़्तों में 5,000 से 10,000 यहूदी मार डाले गए। कुछ यहूदी परिवारों ने ज़बरदस्ती ईसाई बनाए जाने के बजाय ख़ुद को मार लेना बेहतर समझा। यह कहानी सोलोमन बार सिमसन नाम के एक यहूदी लेखक ने दर्ज की, जिसने थोड़ी देर बाद इसका विस्तृत इब्रानी इतिहास लिखा।

यह भी बताना ज़रूरी है कि कुछ स्थानीय ईसाई बिशपों ने असल में यहूदियों को बचाने की कोशिश भी की। स्पायर के बिशप ने यहूदी परिवारों को छिपाकर वहाँ क़त्लेआम रोका। माइंज़ के आर्चबिशप ने भी कोशिश की, हालाँकि वह नाकाम रहा। ये भीड़ें अक्सर चर्च के क़ाबू से बाहर होती थीं। पर जिस मूल धार्मिक नफ़रत की वजह से ऐसी भीड़ें बन ही पाती थीं, वह नफ़रत ईसाई शिक्षा ने ही पैदा की थी।

“ईश्वर-हत्या” वाली झूठी कहानी

यहूदियों के ख़िलाफ़ ईसाई हिंसा की सबसे गहरी जड़ एक धार्मिक विचार था, जिसे “ईश्वर-हत्या का इल्ज़ाम” कहते हैं। ईश्वर-हत्या का मतलब है — ईश्वर को मार देना। इल्ज़ाम यह लगाया गया कि सारे यहूदी लोग, मिलकर और हमेशा-हमेशा के लिए, ईसा को मारने के ज़िम्मेदार हैं — और ईसाई, ईसा को इंसानी रूप में ख़ुद ईश्वर मानते हैं।

यह विचार ख़ुद ईसाई धर्म की अपनी कसौटी पर भी झूठा है। क्यों? क्योंकि ख़ुद नया नियम — यानी ईसाइयों की पवित्र किताब का एक हिस्सा — कहता है कि ईसा को रोमन हुकूमत ने सलीब पर चढ़ाया था। रोमन गवर्नर पोंटियस पिलात ने यह हुक्म दिया था। सलीब पर चढ़ाकर मारना मौत देने का रोमन तरीक़ा था। यहूदी इस तरीक़े से किसी को नहीं मारते थे। और रोमन क़ब्ज़े के नीचे यहूदियों के पास किसी को मौत की सज़ा देने का क़ानूनी अधिकार ही नहीं था। ख़ुद ईसाई इंजीलें (ईसा के जीवन की किताबें) यह मानती हैं। यानी “यहूदियों ने ईसा को मारा” वाली बात ख़ुद ईसाई पवित्र किताब से ही ग़लत साबित हो जाती है।

पर यह झूठ राजनीति के काम का था, सो यह लगभग 2,000 साल ज़िंदा रहा। इसी झूठ के सहारे एक के बाद एक देश से यहूदियों को निकाला गया। यहूदियों को इंग्लैंड से 1290 में निकाला गया। फ़्रांस से 1306 में, और फिर 1394 में। स्पेन से 1492 में। पुर्तगाल से 1496 में। इटली और जर्मनी में उन्हें दीवारों से घिरे अलग मोहल्लों में रहने पर मजबूर किया गया, जिन्हें “घेटो” कहते थे। 1348 में जब प्लेग (काली मौत नाम की महामारी) फैली, तो उसका इल्ज़ाम भी यहूदियों पर मढ़कर उनका क़त्लेआम किया गया। यह सब कुछ इसी “ईश्वर-हत्या” वाले झूठ के नाम पर जायज़ ठहराया गया।

इस झूठ का सबसे आख़िरी और सबसे भयानक नतीजा 1941 से 1945 के होलोकॉस्ट में आया, जब नाज़ी जर्मनी ने साठ लाख यहूदियों को मार डाला। नाज़ी ख़ुद ईसाई नहीं थे — पर 2,000 साल की ईसाई यहूदी-विरोधी नफ़रत ने वह ज़मीन तैयार कर दी थी जिस पर होलोकॉस्ट जैसी चीज़ मुमकिन हो सकी।

चर्च ने आख़िरकार माना कि यह झूठ था

1965 में, दुनिया के सबसे बड़े ईसाई समुदाय — कैथोलिक चर्च — ने आख़िरकार एक आधिकारिक बयान जारी करके "ईश्वर-हत्या के इल्ज़ाम" को रद्द कर दिया। यह बयान *Nostra Aetate* नाम के एक दस्तावेज़ का हिस्सा था, जो "दूसरी वैटिकन काउंसिल" (कैथोलिक चर्च की एक बड़ी सभा) ने जारी किया। उस दस्तावेज़ में कहा गया कि ईसा के दुख और मौत का दोष न तो उस वक़्त के सारे यहूदियों पर, और न ही आज के यहूदियों पर मढ़ा जा सकता है — और चर्च को इस बात का अफ़सोस है कि यहूदियों ने सदियों तक ज़ुल्म झेला।

> *"उनके कष्ट के समय जो कुछ हुआ, उसका दोष न तो उस वक़्त ज़िंदा सारे यहूदियों पर, बिना किसी फ़र्क़ के, मढ़ा जा सकता है, न ही आज के यहूदियों पर।"*
>
> *— कैथोलिक चर्च, Nostra Aetate, 28 अक्तूबर 1965*

इसे ध्यान से पढ़िए। जिस चर्च ने इस झूठ से लगभग 2,000 साल फ़ायदा उठाया, उसी ने आख़िरकार 1965 में मान लिया कि यह ग़लत था। अगर कोई आज भी पुरानी झूठी कहानी पर यक़ीन करता है, तो ख़ुद कैथोलिक चर्च उससे असहमत है। इतने भर से बात ख़त्म हो जानी चाहिए।

VI.

इस्लाम असल में कहाँ से आता है

अब हम शुरुआती उलझन के आख़िरी टुकड़े पर आते हैं। एक आम ग़लत धारणा यह है कि इस्लाम उन यहूदियों से निकला जो इज़राइल से भागे और एक नए गुट में बँट गए। यह सच नहीं है। आइए, मैं बताता हूँ कि इस्लाम असल में कहाँ से आता है।

पृष्ठभूमि: 600 के दशक का अरब

इस्लाम अरब प्रायद्वीप में उभरा — यह वह बड़ा रेगिस्तानी इलाक़ा है जिसे आज हम सऊदी अरब, यमन और खाड़ी के देश कहते हैं। (प्रायद्वीप यानी ज़मीन का वह हिस्सा जिसके तीन ओर समुद्र हो।) जगह के लिहाज़ से, यह येरूशलम से लगभग 1,500 किलोमीटर दक्षिण में है। समझने के लिए — यह मोटे तौर पर उतनी ही दूरी है जितनी दिल्ली से मुंबई।

600 ईस्वी में अरब कोई एक जुड़ा हुआ देश नहीं था। यह कई क़बीलों का बिखरा हुआ मेल था, जो अरबी बोलते थे और कुछ रीति-रिवाज साझा करते थे, पर अक्सर आपस में लड़ते रहते थे। ज़्यादातर अरब "बहु-ईश्वरवादी" थे — यानी वे एक नहीं, बल्कि कई देवताओं को मानते थे। अरब की सबसे अहम धार्मिक जगह मक्का शहर में "काबा" नाम की एक पत्थर की इमारत थी। काबा के अंदर अलग-अलग क़बीलों के पूजे जाने वाले 360 देवताओं के बुत रखे थे। पूरे अरब से लोग इन्हें देखने और पूजने आते थे।

अरब में यहूदी समुदाय भी थे — ख़ास तौर पर यथरिब नाम के शहर में, जिसका नाम आगे चलकर मदीना रखा गया। ये यहूदी वहाँ सदियों से रह रहे थे — शायद 587 ई.पू. में पहले मंदिर के टूटने के समय से ही। इलाक़े में इधर-उधर बिखरे हुए कुछ ईसाई समुदाय भी थे। और सरहद पार आज के ईरान से, ज़रथुस्त्री धर्म मानने वाले फ़ारसी लोग भी इस इलाक़े पर असर डालते थे।

वह आदमी और वह लहर

570 ईस्वी में, मक्का में मुहम्मद नाम का एक आदमी पैदा हुआ। वह कुरैश क़बीले के एक इज़्ज़तदार, पर अमीर नहीं, घराने से थे। बड़े होकर वह एक कामयाब व्यापारी बने। उन्होंने ख़दीजा नाम की एक अमीर, उम्र में बड़ी औरत से शादी की। वह अपनी ईमानदारी और भरोसेमंदी के लिए जाने जाते थे।

जब वह लगभग 40 साल के थे — क़रीब 610 ईस्वी में — मुहम्मद को धार्मिक अनुभव होने लगे। उन्होंने कहा कि जिब्राईल फ़रिश्ता उनके सामने आता है और उन्हें ईश्वर की ओर से संदेश देता है। (फ़रिश्ता यानी ईश्वर का दूत।) अगले 22 साल में सुनाए गए ये संदेश ही आगे चलकर क़ुरान बने — इस्लाम की पवित्र किताब। मुहम्मद यह उपदेश देने लगे कि ईश्वर सिर्फ़ एक ही है, कि काबे के बुत झूठे हैं, और अरबों को अपना पुराना धर्म छोड़ देना चाहिए।

पहले-पहल बहुत कम लोगों ने उनकी सुनी। मक्का के ज़्यादातर लोग नाराज़ थे, क्योंकि उनकी कमाई उन तीर्थयात्रियों पर टिकी थी जो बुतों को पूजने आते थे। मुहम्मद और उनके छोटे-से अनुयायी गुट को सताया जाने लगा। 622 ईस्वी में, वे यथरिब चले गए, जहाँ लोगों ने उनका स्वागत किया। इस घटना को "हिजरत" कहते हैं, और यह इतनी अहम है कि इस्लामी कैलेंडर की शुरुआत ही इसी साल से होती है। यथरिब का नाम बदलकर मदीना रख दिया गया, जिसका मतलब है "नबी का शहर"। (नबी यानी ईश्वर का संदेश पहुँचाने वाला।)

मदीने से, मुहम्मद ने एक धार्मिक और राजनीतिक लहर खड़ी कर दी। 632 ईस्वी में जब उनका देहांत हुआ, तब तक ज़्यादातर अरब इस्लाम अपना चुका था। उनके अनुयायी फिर अरब से बाहर फैले, और सिर्फ़ 100 साल के अंदर इतिहास के सबसे बड़े साम्राज्यों में से एक खड़ा कर लिया — जो पश्चिम में स्पेन से लेकर पूर्व में भारत तक फैला था।

तो इस्लाम का यहूदी धर्म से रिश्ता क्या है?

इस्लाम यहूदी धर्म का कोई टूटा हुआ टुकड़ा नहीं है। पर यह कुछ अहम तरीक़ों से यहूदी धर्म और ईसाई धर्म — दोनों से जुड़ा हुआ है। तीनों धर्म अपनी जड़ें एक ही पुरखे — अब्राहम — से जोड़ते हैं, जिनके बारे में कहा जाता है कि वे लगभग 1,800 ई.पू. में हुए थे। इसी साझे मूल की वजह से इन तीनों को "अब्राहमी धर्म" कहा जाता है।

मुहम्मद ने मूसा, अब्राहम और दाऊद जैसे यहूदी नबियों को माना, और ईसा को भी एक अहम नबी माना — हालाँकि ईश्वर के रूप में नहीं। उनका मानना था कि वे इन पहले के धर्मों की शिक्षाओं को पूरा और दुरुस्त कर रहे हैं, कोई बिल्कुल नया धर्म नहीं चला रहे। मुसलमानों के नज़रिए से, इस्लाम असल में अब्राहम का वही मूल धर्म है, जिसे फिर से ठीक करके लौटाया गया।

पर असल में, अरब और यहूदी — दोनों, मुहम्मद के जन्म से हज़ारों साल पहले से ही अलग-अलग सभ्यताएँ थे। अरब उन लोगों के वंशज हैं जो बहुत पुराने ज़माने से अरब प्रायद्वीप में रहते थे। यहूदी प्राचीन कनान के इब्रानी क़बीलों के वंशज हैं। ये दो अलग ऐतिहासिक जातियाँ हैं, जो अपनी कहानियों में एक धार्मिक पुरखा साझा करती हैं, पर एक ही जाति नहीं हैं।

> *"इस्लाम यहूदी धर्म का टूटा हुआ टुकड़ा नहीं था। यह सातवीं सदी के अरब में पैदा हुई एक नई धार्मिक और राजनीतिक लहर थी, जिसे उस समय और उस जगह के अपने ख़ास हालात ने गढ़ा।"*
>
> *— फ़्रेड डोनर, मुहम्मद एंड द बिलीवर्ज़, 2010। डोनर यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो में शुरुआती इस्लाम के सबसे बड़े विद्वानों में से एक हैं।*

"जूडास" शब्द पर एक छोटी बात

आम कहानी में एक और उलझन है जिसे मैं साफ़ करना चाहता हूँ। अंग्रेज़ी का शब्द "ज्यू" (यहूदी) असल में "जूडाह" शब्द से आता है। जूडाह प्राचीन इज़राइल के बारह क़बीलों में से एक था, और आगे चलकर यह उस दक्षिणी यहूदी राज का नाम बना जो लगभग 930 ई.पू. से 587 ई.पू. तक रहा। वह राज ईसा के जन्म से

लगभग एक हज़ार साल पहले का है। लोगों के लिए इस्तेमाल होने वाला शब्द "ज्यू" इसी राज के नाम से निकला है।

जूडास इस्कैरियट — वह चेला जिसने ईसा के साथ धोखा किया — का नाम बस उस ज़माने का एक आम यहूदी नाम था। "जूडास" असल में "जूडाह" का यूनानी रूप था, और लाखों यहूदी मर्दों का यही नाम होता था। पूरे यहूदी समाज को एक धोखेबाज़ चेले के साथ गड्डमड्ड कर देना ऐसा ही है जैसे आज किसी एक ख़ास "जॉन" के बुरे काम के लिए दुनिया के हर "जॉन" नाम वाले को दोषी ठहरा देना। इसका कोई तुक नहीं बनता।

और एक बात — ख़ुद ईसा भी यहूदी थे। ईसा का इब्रानी नाम "येशुआ" था। उनके सारे चेले भी यहूदी थे, जूडास समेत। ईसाई धर्म शुरू में एक यहूदी आंदोलन ही था, जो बाद में ग़ैर-यहूदियों में फैला। यह सोचना कि ईसाइयों और यहूदियों के बीच कोई बहुत पुरानी नफ़रत है, इस बात को नज़रअंदाज़ कर देता है कि ख़ुद ईसाई धर्म का संस्थापक एक यहूदी था।

VII.

असल में क्या खोया

अब हम आख़िरकार असली नुक़्ते पर लौट सकते हैं। सारा बुरा इतिहास और हवा-हवाई साज़िश की कहानियाँ हटा दीजिए — तब भी जो मूल बात है वह मज़बूत खड़ी रहती है: यूरोप ने अपने पुराने धर्म छोड़कर सचमुच कुछ असली चीज़ खोई। और इसे करने में पूरे एक हज़ार साल और बहुत सारा ख़ून लगा।

नुक़सान पहला: प्रकृति के साथ एक जीता-जागता रिश्ता

यूरोप के पुराने धर्म ज़मीन में जड़े हुए थे। आप देवताओं को जंगल, नदी या तूफ़ान से अलग करके सोच ही नहीं सकते थे। देवताओं का आदर करना — असल में उस जगह का आदर करना था जहाँ आप रहते थे। प्रार्थना करना — किसी वन में जाना था। जश्न मनाना — किसी पवित्र झरने के पास इकट्ठा होना था।

ईसाई धर्म ने "पवित्र" को कहीं और ले जाकर रख दिया। अब ईश्वर स्वर्ग में था — दूर, ऊपर। और धरती एक अलग चीज़ बन गई — ऐसी चीज़ जो ईश्वर ने इंसानों को इस्तेमाल करने के लिए दी। ईसाइयों की किताब "उत्पत्ति" कहती है कि ईश्वर ने इंसानों से कहा — धरती पर राज करो और इसे अपने अधीन करो। उस शब्द पर ग़ौर कीजिए — "अधीन करो"। अधीन करने का उल्टा है — आदर करना। ईसाई धर्म ने, अपने आम रूप में, यही सिखाया कि प्रकृति इंसान के क़ाबू करने के लिए है, पूजने के लिए नहीं।

1967 में, लिन व्हाइट जूनियर नाम के एक इतिहासकार ने *Science* नाम की एक वैज्ञानिक पत्रिका में एक मशहूर लेख छापा। उसका नाम था — "हमारे पर्यावरण-संकट की ऐतिहासिक जड़ें"। व्हाइट ख़ुद ईसाई था। उसने तर्क दिया कि पश्चिमी दुनिया प्रकृति को सिर्फ़ "इस्तेमाल की चीज़" जैसे जो समझती है, वह सोच सीधे उसी ईसाई धर्म-विचार से आती है जिसने पुराने प्रकृति वाले धर्मों की जगह ली। उसका कहना था कि जब दुनिया "आत्माओं से भरी जगह" से बदलकर सिर्फ़ "बेजान पदार्थ" रह गई, तो प्रकृति का शोषण करना, उसे गंदा करना और तबाह करना मन को आसान लगने लगा।

> *"पेगन आत्मावाद को तबाह करके, ईसाई धर्म ने प्रकृति का शोषण इस बेपरवाही के माहौल में मुमकिन बना दिया कि प्राकृतिक चीज़ों की भी कोई भावना होती है, इसकी परवाह ही न रहे।"*
>
> *— लिन व्हाइट जूनियर, Science पत्रिका, 1967*

दूसरे विद्वानों ने इसके जवाब में कहा है कि पर्यावरण का नुक़सान ईसाई धर्म ने नहीं, बल्कि औद्योगिक पूँजीवाद (कारख़ानों और मुनाफ़े वाली व्यवस्था) ने किया। और उनकी बात में भी दम है। पर व्हाइट की मूल समझ आज भी ताक़तवर है। जब आप नदी को देवता मानना छोड़ देते हैं, तो आप उसे सिर्फ़ "इस्तेमाल की चीज़" समझने लगते हैं। जब जंगल पवित्र नहीं रहता, तो वह सिर्फ़ "लकड़ी" बन जाता है। मन का यह बदलाव, असली तबाही को आसान बना देता है।

नुक़सान दूसरा: स्थानीय कहानियाँ और स्थानीय पहचान

पुराने धर्म गहराई से स्थानीय थे — यानी हर जगह के अपने। हर घाटी के अपने देवता। हर झरने की अपनी आत्मा। हर गाँव की अपनी पवित्र जगह। आपका धर्म उस जगह से जुड़ा होता था जहाँ आप पैदा हुए — आपके अपने पहाड़, अपनी नदी, और उन कहानियों से जो आपकी दादी उसी ख़ास टीले या उसी ख़ास पेड़ के बारे में सुनाती थी।

ईसाई धर्म ने इसकी जगह एक "सबके लिए एक ही नाप" वाला धर्म ला दिया। आयरलैंड से रूस तक — वही एक ईश्वर, वही संत, वही बाइबल। इस सबको एक कर देने वाले नज़रिए में कुछ मिला भी — दूर-दूर के लोग आपस में कुछ साझा महसूस कर सकते थे। पर कुछ खोया भी। वे हज़ारों छोटी-छोटी कहानियाँ, जो हर समुदाय को उसकी अपनी ज़मीन के टुकड़े से जोड़ती थीं, या तो भुला दी गईं या हज़ारों मील दूर के एक अलग रेगिस्तान की कहानियों से बदल दी गईं।

दिलचस्प बात — यूरोपीय ईसाई धर्म के बहुत-से संत असल में भेस बदले हुए पुराने पेगन देवता ही हैं। आयरलैंड की "सेंट ब्रिजिड" शुरू में सेल्ट देवी "ब्रिजिड" थी। क्रिसमस का त्योहार 25 दिसंबर को इसलिए रखा गया ताकि वह रोमन पेगन त्योहार "सोल इनविक्टस" और जर्मन सर्दियों के त्योहार "यूल" के साथ मिल जाए। क्रिसमस के पेड़, ईस्टर के अंडे, मेपोल, हेलोवीन का कद्दू, मे क्वीन — ये सब असल में पेगन निशान हैं, जो इसलिए बच गए क्योंकि लोगों ने इन्हें पूरी तरह छोड़ने से इनकार कर दिया। चर्च ने इनसे लड़ने के बजाय इन्हें अपने अंदर समेट लिया — क्योंकि यही आसान रास्ता था।

नुक़सान तीसरा: ख़ुद को देखने का एक अलग नज़रिया

पुराने पेगन धर्मों में "मूल-पाप" जैसा कोई विचार नहीं था। (मूल-पाप यानी यह मान्यता कि हर इंसान जन्म से ही पापी/दोषी पैदा होता है।) वे यह नहीं सिखाते थे कि इंसान टूटा-फूटा पैदा होता है और उसे "मुक्ति" की ज़रूरत है। कुछ पेगन धर्मों में मौत के बाद की दुनिया का ख़याल था, पर वह आम तौर पर इसी ज़िंदगी का अगला हिस्सा-भर था — कोई इनाम या सज़ा नहीं। नॉर्स "वालहाला" में यक़ीन रखते थे, जहाँ योद्धा हमेशा दावत करते और लड़ते रहेंगे। यूनानी "हेडीज़" नाम की एक धुँधली-सी पाताल-दुनिया में यक़ीन रखते थे। सेल्ट "टीर ना नोग" नाम की एक सुंदर दूसरी दुनिया — यानी "जवानी की धरती" — में यक़ीन रखते थे।

ईसाई धर्म ने ख़ुद को लेकर एक ज़्यादा चिंता-भरा नज़रिया दिया। आदम और हव्वा के किए की वजह से आप जन्म से ही दोषी माने जाते हैं। आपको हमेशा की सज़ा से बचाए जाने की ज़रूरत है। आपका हर काम आपको स्वर्ग या नरक भेज सकता है। इसने ज़िंदगी को एक अलग ही मानसिक रंग दे दिया। यह बेहतर था या बदतर — यह राय की बात है, पर अलग ज़रूर था।

जर्मन दार्शनिक फ़्रेडरिक नीत्शे ने, 1800 के दशक के आख़िर में, यह तर्क दिया कि ईसाई धर्म ने एक "ग़ुलाम वाली नैतिकता" पैदा की — जो लोगों को अपनी स्वाभाविक इच्छाओं पर शर्मिंदा होना सिखाती थी। वह एक बहुत तीखा आलोचक था, और उसके विचार उलझे हुए भी थे। पर उसकी यह मूल बात — कि पुराने धर्मों का इंसानी स्वभाव से एक ज़्यादा सीधा, कम अपराध-बोध वाला रिश्ता था — कई दूसरे विचारक भी मानते हैं।

नुक़सान चौथा: ज्ञान

जब पुराने धर्म तबाह हुए, तो उनके साथ बहुत सारा काम का ज्ञान भी ख़त्म हो गया। ड्रूइडों को सीखने में 20 साल लगते थे। वे सिर्फ़ पुजारी नहीं थे — वे हकीम, खगोल-वैज्ञानिक, वकील और इतिहासकार भी थे। जब ड्रूइड ख़त्म कर दिए गए, तो उनके दिमाग़ में जमा वह पूरी ज्ञान की लाइब्रेरी उनके साथ ही मर गई।

अलेक्ज़ांद्रिया की लाइब्रेरी, जिसमें भूमध्य सागर इलाक़े के प्राचीन ज्ञान का सबसे बड़ा भंडार था, कई बार नुक़सान झेलती रही — पर एक आख़िरी बड़ी तबाही 300 और 400 के दशकों (ईस्वी) में मिस्र में ईसाई धर्म के उभार से जुड़ी है। 391 ईस्वी में ईसाई भीड़ों ने "सेरापियम" तबाह कर दिया — यह एक मंदिर-परिसर था, जिसमें लाइब्रेरी का एक हिस्सा भी था। हम पक्के तौर पर नहीं जानते कि कितना ज्ञान खोया, पर बहुत कुछ खोया।

जब पेगन मंदिर बंद किए गए, तो उनमें रखी पुरानी हस्तलिखित किताबें अक्सर या तो जला दी जातीं या दोबारा इस्तेमाल कर ली जातीं। ईसाई भिक्षु कभी-कभी चमड़े के पन्ने से पुरानी लिखाई खुरचकर उस पर ईसाई बातें लिख देते थे। आज की तकनीक से हमने ऐसी कुछ खुरची हुई किताबें फिर से पढ़ ली हैं — और हमें प्रार्थनाओं के नीचे छिपी हुई आर्किमिडीज़ (एक महान प्राचीन वैज्ञानिक) की खोई हुई रचनाएँ तक मिली हैं।

अब, इंसाफ़ की बात यह भी है — ईसाई मठों ने मध्य-युग में बहुत सारा प्राचीन ज्ञान सँभालकर रखा भी। उनके इस काम के बिना तो हमारे पास और भी कम बचता। पर 300 और 400 के दशकों में पेगन ज्ञान की जो शुरुआती तबाही हुई, उसने पश्चिमी दुनिया के ज्ञान को सदियों पीछे धकेल दिया।

VIII.

पुराने रास्तों से हम आज भी क्या सीख सकते हैं

मैं यह बिल्कुल नहीं कह रहा कि हम सबको दोबारा पेड़ों की पूजा करने लग जाना चाहिए। दुनिया बदल चुकी है। अब हमारे पास विज्ञान है, जो भौतिक दुनिया को समझने के लिए हमें किसी भी धर्म से बेहतर औज़ार देता है। हम जानते हैं कि गर्जना बिजली का एक झटका है, थोर का हथौड़ा नहीं। हम जानते हैं कि फ़सल मिट्टी के रसायन और पानी से उगती है, इसलिए नहीं कि कोई फ़सल का देवता ख़ुश है। पीछे लौट जाना इसका जवाब नहीं है।

पर कुछ चीज़ें हैं जो पुराने धर्मों ने ठीक समझी थीं, और जिन्हें हमें याद रखना चाहिए।

वे जानते थे कि हम प्रकृति का हिस्सा हैं, उससे ऊपर नहीं

पुराने धर्म सिखाते थे कि इंसान बहुत-सी जीव-जातियों में से बस एक जाति है — पूरी सृष्टि का केंद्र नहीं। जंगल हमारे लिए नहीं बना था। हम भी उसमें रहने वाले जीवों में से बस एक थे — भेड़ियों, हिरनों, चिड़ियों और आत्माओं के साथ। यह सोच, "इंसान को धरती पर राज मिला है" वाली पुरानी ईसाई सोच से कहीं ज़्यादा उस बात के क़रीब है जो आधुनिक पर्यावरण-विज्ञान आज हमें सिखा रहा है।

आज, हम जलवायु परिवर्तन और पर्यावरण की तबाही का इतने बड़े पैमाने पर सामना कर रहे हैं, जिसकी हमारे पुरखे कल्पना भी नहीं कर सकते थे। हमारे कुछ सबसे होनहार वैज्ञानिक अब यह कह रहे हैं कि हमें प्रकृति के प्रति वह पुराना आदर किसी रूप में दोबारा अपनाना होगा — किसी धार्मिक आस्था के तौर पर नहीं, बल्कि एक व्यावहारिक समझदारी के तौर पर। दुनिया के कई हिस्सों के आदिवासी लोग — यानी वे मूल निवासी जिन्होंने अपने पुराने धर्म पूरी तरह नहीं छोड़े — अक्सर बचे-खुचे जंगलों और नदियों के सबसे अच्छे रखवाले साबित होते हैं। उनका धर्म उन्हें उसी चीज़ का आदर करना सिखाता है जिसका आदर करना अब हम विज्ञान के ज़रिए सीख रहे हैं।

वे जानते थे कि साल की एक लय होती है

पुराने धर्म साल को मौसम से जुड़े त्योहारों से बाँधते थे। जाड़े का सबसे छोटा दिन। बसंत का वह दिन जब उजाला और अँधेरा बराबर होते हैं। गर्मियों का सबसे लंबा दिन। पतझड़ का बराबरी वाला दिन। और इनके बीच के ख़ास दिन। हर एक का अपना जश्न, अपना पकवान, अपना मतलब होता था।

आधुनिक ज़िंदगी ने यह जुड़ाव काफ़ी हद तक खो दिया है। हम दिसंबर में भी उतने ही घंटे काम करते हैं जितने जून में। हम पूरे साल एक जैसा खाना खाते हैं, जो दुनिया भर से मँगाया जाता है। हम उस धरती की लय से कट चुके हैं जिस पर हम रहते हैं। पुराने धर्म उस जुड़ाव को ज़िंदा रखने का एक तरीक़ा थे। आज भी,

हमारे कैलेंडर के जो हिस्से अब भी कुछ मायने रखते हैं — क्रिसमस, ईस्टर, हेलोवीन — असल में वही हिस्से हैं जो पुराने पेगन साल से बचकर आए हैं, बस ईसाई पोशाक पहनकर।

वे जानते थे कि समाज साझा कहानियों से बनता है

हर पुराने धर्म की अपनी कहानियाँ थीं, अपने क़िस्से, अपने नायक। ये सिर्फ़ मनोरंजन नहीं थे। यही वह तरीक़ा था जिससे समाज अपने बच्चों को अपने मूल्य सिखाता था, जिससे लोग अपनी ज़िंदगी का मतलब समझते थे, जिससे एक अकेले इंसान का अनुभव किसी बड़ी चीज़ से जुड़ जाता था।

आधुनिक लोग अक्सर अकेलापन और कटाव महसूस करते हैं। हमारे पास इतिहास के किसी भी इंसान से ज़्यादा मनोरंजन है, पर साझा मतलब कम है। हमने गाँव के क़िस्सागो की जगह नेटफ़्लिक्स के एल्गोरिदम को रख दिया है। नतीजा एक तरह का सांस्कृतिक ख़ालीपन है, जिसे दुनिया भर का सारा स्ट्रीमिंग कंटेंट मिलकर भी नहीं भर सकता। पुराने धर्मों में चाहे और जो भी कमियाँ रही हों, पर उन्होंने लोगों को यह अहसास तो दिया कि वे ख़ुद से किसी बड़ी चीज़ का हिस्सा हैं।

असली सबक़

अब वह बात जो मैं चाहता हूँ कि आप इस सबसे लेकर जाएँ। पुराने धर्म बेवक़ूफ़ नहीं थे। वे उन लोगों के हज़ारों साल में बनाए हुए बारीक तंत्र थे, जो हमसे कहीं ज़्यादा प्रकृति के क़रीब रहते थे। वे इसलिए तबाह नहीं हुए कि ईसाई धर्म किसी तरह ज़्यादा सच्चा था — बल्कि राजनीति, शादी की चालों और हिंसा की वजह से तबाह हुए। जो खोया वह असली था, और हमें इस बारे में ईमानदार रहना चाहिए।

मैं आपसे यह नहीं कह रहा कि आप कोई धर्म बदल लें। अगर आपका कोई धर्म है, तो मैं आपसे उसे छोड़ने को भी नहीं कह रहा। मैं बस इतना कह रहा हूँ कि इतिहास को साफ़ नज़र से देखिए। वह कहानी, जिसमें यूरोप ने ख़ुशी-ख़ुशी ईसाई धर्म इसलिए चुना क्योंकि वह "सबसे अच्छा" धर्म था — एक परीकथा है। असली कहानी इससे कहीं ज़्यादा उलझी हुई और कहीं ज़्यादा असहज है।

असली इतिहास इस आसान कहानी से भारी है। पर यह ज़्यादा दिलचस्प भी है। और यह आपको समझदार बनाता है — क्योंकि अब आप प्रचार और सच के बीच का फ़र्क़ पहचान सकते हैं। इतिहास सीखने की असली वजह यही है। बहस जीतने के लिए नहीं। ख़ुद को दूसरों से बड़ा महसूस करने के लिए नहीं। बल्कि दुनिया को वैसा देखने के लिए जैसी वह असल में थी — और जैसी वह असल में है।

— ◆ —

यही असली कहानी है। इसे किसी बढ़ा-चढ़ाकर कहने की ज़रूरत नहीं। यह पहले से ही काफ़ी भारी है।

IX.

स्रोत और आगे पढ़ने के लिए सामग्री

इस किताब के हर दावे को नीचे दिए स्रोतों से जाँचा जा सकता है। ("स्रोत" यानी वह मूल किताब या लेख जहाँ से जानकारी ली गई है।) अगर आप यह पक्ष किसी से बहस में रखना चाहें, तो ये वही नाम हैं जो आपको जानने चाहिए। अगर कोई आपको चुनौती दे, तो उसे यहाँ भेज दीजिए।

उसी ज़माने में लिखे गए मूल स्रोत

टैसिटस। *जर्मेनिया*, 98 ईस्वी में लिखी। जर्मन प्रकृति-पूजा और पवित्र वनों का वर्णन करने वाला रोमन इतिहासकार।

जूलियस सीज़र। *गॉलिक वॉर्ज़*, लगभग 50 ई.पू. में लिखी। ड्रूइडों का सबसे विस्तृत रोमन वर्णन इसी में है।

जोसीफ़स फ़्लेवियस (योसेफ़ बेन मातित्याहू)। *द ज्यूइश वॉर*, लगभग 75 ईस्वी में लिखी। दूसरे मंदिर की रोमन तबाही का आँखों-देखा हाल।

कैसियस डीओ। *रोमन हिस्ट्री*, लगभग 220 ईस्वी में लिखी। बार कोखबा बग़ावत और रोमन नुक़सान का वर्णन।

यूसीबियस ऑफ़ सीज़रिया। *लाइफ़ ऑफ़ कांस्टैंटाइन*, लगभग 339 ईस्वी में लिखी। कांस्टैंटाइन के धर्म बदलने और सलीब के दर्शन का सबसे पुराना ज़िक्र।

सुकरातीज़ स्कॉलास्टिकस। *एक्लीज़ियास्टिकल हिस्ट्री*, लगभग 440 ईस्वी में लिखी। दार्शनिक हाइपेशिया की हत्या को दर्ज करती है।

ग्रेगरी ऑफ़ टूर्ज़। *हिस्ट्री ऑफ़ द फ़्रैंक्स*, छठी सदी के आख़िर में लिखी। क्लोविस के धर्म बदलने का वर्णन करती है।

आडम ऑफ़ ब्रेमेन। *गेस्टा हैमाबुर्गेनसिस एक्लीज़िए पॉन्टीफ़िकम*, लगभग 1070 ईस्वी में लिखी। स्वीडन के उप्साला वाले पेगन मंदिर का वर्णन।

सोलोमन बार सिमसन। *पहले धर्मयुद्ध का इब्रानी इतिहास*, 12वीं सदी। राइनलैंड क़त्लेआम का आँखों-देखा हाल।

अनजान आइसलैंडी भिक्षु। *इसलैंडिंगाबोक* और *रशियन प्राइमरी क्रॉनिकल*, लगभग 1130 ईस्वी और उसके बाद। आइसलैंड और कीवन रूस का धर्म बदलना।

शार्लमेन का दरबार। *रॉयल फ़्रैंकिश एनल्ज़* और *Capitulatio de partibus Saxoniae*, आठवीं सदी का आख़िर। वर्डन का सैक्सन क़त्लेआम और पेगन धर्म के ख़िलाफ़ बने क़ानून।

आधुनिक विद्वानों की किताबें

रॉबर्ट बार्टलैट। *द मेकिंग ऑफ़ यूरोप: कॉन्क्वेस्ट, कोलोनाइज़ेशन एंड कल्चरल चेंज 950–1350*, 1993 में छपी। ईसाई धर्म के मध्यकालीन फैलाव पर कैम्ब्रिज के इतिहासकार।

पीटर ब्राउन। *द राइज़ ऑफ़ वेस्टर्न क्रिस्टेनडम*, 2003 में छपी। प्रिंसटन के इतिहासकार और ईसाई धर्म के फैलाव पर सबसे बड़े जानकार।

अलेसांद्रो बार्बेरो। *शार्लमेन: फ़ादर ऑफ़ अ कॉन्टिनेंट*, 2004 में छपी। मध्यकालीन यूरोप पर केंद्रित इतालवी इतिहासकार।

एरिक क्रिस्टियानसन। *द नॉर्दर्न क्रूसेड्ज़*, 1980 में छपी। बाल्टिक पेगनों के ख़िलाफ़ ईसाई युद्धों पर सबसे भरोसेमंद किताब।

रोनाल्ड हटन। *द पेगन रिलीजन्स ऑफ़ द एंशिएंट ब्रिटिश आइल्स*, 1991 में छपी। ब्रिटिश पेगन धर्म के बारे में हम असल में क्या जानते हैं, उस पर सबसे भरोसेमंद किताब।

बैरी कनलिफ़। *द एंशिएंट सेल्ट्स*, 1997 में छपी। सेल्ट संस्कृति और ड्रूइडों पर ऑक्सफ़ोर्ड के पुरातत्व-वैज्ञानिक।

एडवर्ड जे. वॉट्स। *हाइपेशिया: द लाइफ़ एंड लीजेंड ऑफ़ एन एंशिएंट फ़िलॉसफ़र*, 2017 में छपी। हाइपेशिया की सबसे नई विद्वत्तापूर्ण जीवनी।

फ़्रेड डोनर। *मुहम्मद एंड द बिलीवर्ज़: एट द ऑरिजिन्स ऑफ़ इस्लाम*, 2010 में छपी। इस्लाम के असली ऐतिहासिक मूल पर यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो के विद्वान।

लिन व्हाइट जूनियर। *द हिस्टॉरिकल रूट्स ऑफ़ आवर इकोलॉजिकल क्राइसिस*, Science पत्रिका में लेख, 1967। यह मशहूर तर्क कि ईसाई धर्म ने पश्चिम का प्रकृति के प्रति नज़रिया बदल दिया।

दूसरी वैटिकन काउंसिल। *Nostra Aetate*, 1965। यहूदी लोगों के ख़िलाफ़ "ईश्वर-हत्या के इल्ज़ाम" को रद्द करने वाला आधिकारिक कैथोलिक दस्तावेज़।

मिरचा एलियाडे। *द सेक्रेड एंड द प्रोफ़ेन*, 1957 में छपी। पेगन और एक-ईश्वर वाले धर्मों के नज़रिए के फ़र्क़ पर रोमानियाई विद्वान।

जेम्स सी. रसल। *द जर्मनाइज़ेशन ऑफ़ अर्ली मीडीवल क्रिश्चियैनिटी*, 1994 में छपी। पेगन जर्मन संस्कृति ने अंदर से ईसाई धर्म को कैसे बदल दिया, इस पर।

— ◆ —

सबसे मज़बूत दलील वही है जो जाँच में टिकी रह जाए।
ध्यान रखिए कि आपकी दलील हमेशा टिकी रहे।

लवप्रीत सिंह

भूले-बिसरे देवता

वह धरती जो झुकी नहीं
भारत वह कैसे बच गया, जो यूरोप न बचा सका

लेखक

लवप्रीत सिंह

— भाग दूसरा —
उसी इतिहास की दलील आगे बढ़ती है, अब रुख़ पूरब की ओर —
उस सभ्यता की ओर, जिसने अपने पुराने देवता छोड़ने से इनकार
कर दिया।

आगे बढ़ने से पहले एक बात

इस किताब के पहले भाग में हमने यूरोप को देखा था। हमने देखा कि कैसे एक ऐसा महाद्वीप, जो हज़ारों साल तक अपने जंगलों और नदियों को पूजता रहा, धीरे-धीरे — और कभी-कभी हिंसा से — ईसाई बना दिया गया। हमने शादी की चालें देखीं, ज़बरदस्ती के बपतिस्मा देखे, सैक्सन क़त्लेआम देखे, उत्तरी धर्मयुद्ध देखे। आख़िर में, यूरोप के पुराने देवता ग़ायब हो गए — सिर्फ़ कुछ लोक-रिवाजों और हफ़्ते के दिनों के नामों में बचे रह गए।

अब हम पूरब की ओर मुड़ते हैं। क्योंकि जिन ताक़तों ने यूरोप को जीता, उन्होंने भारत, चीन और जापान को भी जीतने की कोशिश की। ईसाई धर्म ने कोशिश की। इस्लाम ने कोशिश की। दोनों ने कई सदियों तक भारी ज़ोर लगाया। दोनों ने धर्म-प्रचारक, सिपाही, पैसा, और कभी-कभी पूरी-पूरी फ़ौजें भेजीं। फिर भी, आज जब आप भारत, चीन और जापान को देखते हैं, तो वहाँ पुराने धर्म आज भी ज़िंदा हैं। हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, कन्फ़्यूशियसवाद, शिंतो। ये किसी म्यूज़ियम में रखी पुरानी चीज़ें नहीं हैं। इन्हें आज भी रोज़ करोड़ों लोग मानते और जीते हैं।

यह कैसे हुआ? पूरब में पुराने धर्म कैसे बच गए, जबकि पश्चिम में वे मर गए? यह दुनिया के इतिहास के सबसे अहम सवालों में से एक है। और इसका जवाब, जब आप सचमुच गहराई में जाते हैं, किसी भी सीधी-सादी कहानी से कहीं ज़्यादा दिलचस्प है।

शुरू करने से पहले मैं आपसे एक बात साफ़ कह दूँ। मैं ख़ुद एक पंजाबी हूँ। मेरा परिवार सिख है। मैं इस इतिहास के बीच ही बड़ा हुआ हूँ। पर इस भाग में मैं पूरी ईमानदारी से निष्पक्ष रहने की कोशिश करूँगा। मैं यह नहीं दिखाऊँगा कि भारत बेदाग़ था। मैं यह भी नहीं दिखाऊँगा कि हमलावर सिर्फ़ बुरे ही थे। असली इतिहास उलझा हुआ है। उसका कुछ हिस्सा दर्दनाक है। कुछ हिस्सा गौरवशाली है। और कुछ हिस्सा शर्मनाक भी है। मैं आपको वह सब बताऊँगा, जैसा वह असल में हुआ था।

अगर आप भारतीय नहीं हैं, तो भी इस हिस्से को मत छोड़िएगा। क्योंकि भारत में जो हुआ, उसमें हर किसी के लिए सबक़ हैं। यह इस बात का एक नमूना है कि जब किसी संस्कृति की आत्मा पर हमला होता है, तो वह कैसे बची रहती है।

> **दो शब्द फिर से याद कर लीजिए।** इस किताब में बार-बार दो शब्द आएँगे — "ईस्वी" और "ई.पू."। ईसा मसीह के जन्म के साल को गिनती का शून्य मान लिया गया है। उनके जन्म के **बाद** के सालों को "ईस्वी" कहते हैं (जैसे 2026 ईस्वी = आज)। उनके जन्म से **पहले** के सालों को "ई.पू." यानी "ईसा-पूर्व" कहते हैं। ई.पू. के साल उल्टे चलते हैं — 2000 ई.पू., 500 ई.पू. से ज़्यादा पुराना समय है।

लवप्रीत सिंह

भाग दूसरे की विषय-सूची

X. इतिहास लिखे जाने से पहले: सिंधु घाटी

XI. वैदिक युग और एक ऐसे विचार का जन्म जो मरने से इनकार कर गया

XII. स्वर्ण-युग: मौर्य, गुप्त, और अपने शिखर पर एक सभ्यता

XIII. भारत ने दुनिया को क्या दिया

XIV. पहली लहर: इस्लाम का भारत आना

XV. सल्तनत, मुग़ल, और वह लंबी विजय

इस किताब का भाग तीन भारत में यूरोपीय उपनिवेशवाद की कहानी कहेगा, और भाग चार चीन तथा जापान की ओर मुड़ेगा।

“भारत मानव-जाति का पालना है, मानव-भाषा का जन्मस्थान है, इतिहास की माँ है, किंवदंती की दादी है, और परंपरा की परदादी है।”

— मार्क ट्वेन, फ़ॉलोइंग द इक्वेटर, 1897

— ◆ —

यह किसी धर्म पर हमला नहीं है। यह सिर्फ़ इतिहास की एक सच्ची बात है। इसे खुले मन से पढ़िए।

X.

इतिहास लिखे जाने से पहले: सिंधु घाटी

मैं एक ऐसी बात से शुरू करता हूँ जो ज़्यादातर लोगों को हैरान कर देगी। जब मिस्र के लोग अभी पिरामिड बनाना सीख ही रहे थे, और यूरोप के लोग अभी लकड़ी की झोपड़ियों वाले बिखरे हुए गाँवों में रहते थे — उस वक़्त भारत में पहले से ही एक बहुत बड़ी सभ्यता मौजूद थी, जिसमें योजना से बने शहर थे, घरों के अंदर शौचालय और पानी की निकासी थी, और नाप-तौल का एक तय किया हुआ पैमाना था।

यह थी सिंधु घाटी सभ्यता। यह दुनिया के इतिहास का एक भुला दिया गया महान अध्याय है, और ज़्यादातर लोग — यहाँ तक कि ज़्यादातर भारतीय भी — इसके बारे में बहुत कम जानते हैं। आइए, इस कमी को दूर करते हैं।

> **"सिंधु घाटी सभ्यता" क्या है?** यह दुनिया की सबसे पुरानी बड़ी सभ्यताओं में से एक है, जो लगभग 2600 ई.पू. के आस-पास, सिंधु नदी (आज ज़्यादातर पाकिस्तान में) के इलाक़े में फली-फूली। इसे "हड़प्पा सभ्यता" भी कहते हैं। ("सभ्यता" यानी एक बड़ा, संगठित समाज जिसके अपने शहर, व्यापार, लिपि और व्यवस्था हो।)

खोज

1920 के दशक में, ब्रिटिश और भारतीय पुरातत्व-वैज्ञानिक उस इलाक़े में खुदाई कर रहे थे जो आज पाकिस्तान में है, सिंधु नदी के पास। (पुरातत्व-वैज्ञानिक यानी वे लोग जो ज़मीन खोदकर पुरानी सभ्यताओं के अवशेष ढूँढते और पढ़ते हैं।) उन्हें ज़्यादा कुछ मिलने की उम्मीद नहीं थी — वह इलाक़ा बस ईंट और धूल के टीलों जैसा दिखता था। पर जब उन्होंने एक टीले में खुदाई शुरू की, तो उन्हें कुछ अविश्वसनीय मिला। नीचे एक पूरा प्राचीन शहर दबा हुआ था। और सिर्फ़ एक शहर नहीं — ऐसे शहरों का एक पूरा जाल।

उन्हें जो दो सबसे बड़े शहर मिले, वे थे मोहनजोदड़ो (सिंधी भाषा में जिसका मतलब है "मुर्दों का टीला") और हड़प्पा। दोनों शहर लगभग 2600 ई.पू. में बने थे — यानी 4,600 साल से भी पहले। तुलना के लिए — मिस्र का मशहूर गीज़ा का बड़ा पिरामिड लगभग 2570 ई.पू. में बना था। यानी ये भारतीय शहर पिरामिडों के ही ज़माने में बने थे, पर ये बिल्कुल अलग चीज़ कर रहे थे। ये राजाओं के लिए विशाल मक़बरे नहीं बना रहे थे। ये आम लोगों के रहने के लिए काम के, चलते-फिरते शहर बना रहे थे।

वे शहर, जिन्हें होना ही नहीं चाहिए था

सिंधु घाटी के शहरों को इतना हैरान करने वाला क्या बनाता है, सुनिए। ये शहर एक तय जाल (ग्रिड) के नक़्शे पर बसे थे। चौड़ी मुख्य सड़कें उत्तर से दक्षिण को जाती थीं। उन्हें काटती हुई पतली सड़कें पूरब से पश्चिम को

जाती थीं। यह वही बुनियादी शहर-बनावट है जो आज के न्यूयॉर्क और चंडीगढ़ में है। पर सिंधु के लोगों ने यह 4,600 साल पहले समझ लिया था।

लगभग हर घर में एक निजी स्नानघर/शौचालय था। जी हाँ, आपने ठीक पढ़ा — 2600 ई.पू. में घरों के अंदर शौचालय। इन शौचालयों की नालियाँ पूरे शहर की एक गंदे पानी की निकासी व्यवस्था से जुड़ी थीं। नालियाँ ईंट की पट्टियों से ढकी थीं, जिन्हें सफ़ाई के लिए उठाया जा सकता था। गंदा पानी ज़मीन के नीचे की नालियों से शहर के बाहर बहकर जाता था। यूरोप के कई हिस्सों में ऐसी कोई व्यवस्था 1800 ईस्वी तक भी नहीं थी।

लगभग हर घर में ताज़े पानी के लिए एक कुआँ था। सार्वजनिक स्नान-कुंड भी थे, जिनमें मोहनजोदड़ो का मशहूर "महास्नानागार" शामिल है। यह 12 मीटर लंबा, 7 मीटर चौड़ा और 2.4 मीटर गहरा था, ध्यान से तराशी हुई ईंटों से बना, और तारकोल की एक परत से पानी-रोधक बनाया हुआ। इतिहासकारों का मानना है कि इसे धार्मिक स्नान के लिए इस्तेमाल किया जाता था, पर हम पक्के तौर पर नहीं जानते।

एक व्यापार जो प्राचीन दुनिया भर में फैला था

सिंधु के लोग बस अपने शहरों में बैठे नहीं थे। वे व्यापार करते थे। सिंधु की "मुहरें" — माल पर ठप्पा लगाने के लिए इस्तेमाल होने वाले छोटे तराशे हुए पत्थर — मेसोपोटामिया में मिली हैं, यानी आज के इराक़ में। यह 2,000 किलोमीटर से भी ज़्यादा दूर है। हमारे पास लगभग 2300 ई.पू. के मेसोपोटामिया के लेख हैं जिनमें "मेलुहा" नाम की एक धरती से व्यापार का ज़िक्र है, जिसे विद्वान सिंधु घाटी ही मानते हैं।

सिंधु के लोग सूती कपड़ा, मनके, ताँबा और शायद लकड़ी का व्यापार करते थे। उनके पास नाप-तौल का तय पैमाना था, जिसमें सबसे छोटी इकाई लगभग 0.87 ग्राम थी। ऊपर जाते-जाते बाट दोगुने होते जाते थे। यह गणित की अद्भुत समझ दिखाता है। उनके पास एक चलती-फिरती संख्या-व्यवस्था थी — दुनिया के ज़्यादातर लोगों से हज़ारों साल पहले।

एक पहेली जो आज भी नहीं सुलझी

सिंधु घाटी सभ्यता के बारे में एक बात बहुत खलती है। हम उनकी लिखाई पढ़ ही नहीं सकते।

उनके पास एक लिपि (लिखने का तरीक़ा) थी। हमें मुहरों, बर्तनों और पट्टियों पर 4,000 से ज़्यादा लेख मिले हैं। चिह्न साफ़ हैं। लगभग 400 से 600 अलग-अलग चिह्न हैं। कुछ चिह्न ऐसे ढर्रों में दोहराए जाते हैं जिनसे लगता है कि यह सचमुच कोई भाषा है। पर 100 साल से ज़्यादा कोशिश के बावजूद, कोई इसे पढ़ नहीं पाया है। हम नहीं जानते कि सिंधु के लोग कौन-सी भाषा बोलते थे। हम नहीं जानते कि उनके शहरों के असली नाम क्या थे। हम नहीं जानते कि उनके राजाओं, देवताओं या नायकों के नाम क्या थे।

यह पुरातत्व की सबसे बड़ी अनसुलझी पहेलियों में से एक है। मिस्र की चित्रलिपि को 1822 में जाँ-फ़्रांस्वा शांपोलिओं ने "रोज़ेटा स्टोन" की मदद से पढ़ लिया था — एक ऐसा पत्थर जिस पर एक ही बात तीन लिपियों में लिखी थी। सिंधु लिपि के लिए कोई रोज़ेटा स्टोन नहीं है। हमारे पास बस चिह्न ही हैं, जो एक ऐसे ज़माने से चुपचाप हमें देखते रहते हैं जहाँ हम पहुँच नहीं सकते।

> *"सिंधु सभ्यता के पास एक लेखन-व्यवस्था थी, जिसके नियम आज भी हमारी पकड़ से बाहर हैं। हम एक महान संस्कृति के निशान देख सकते हैं, पर उनके शब्द पढ़ नहीं सकते।"*
>
> *— आस्को परपोला, फ़िनलैंड के भारत-विद्वान, जिन्होंने अपना पूरा जीवन इस लिपि के अध्ययन में लगाया, 1994*

उनका धर्म क्या था?

हम उनकी लिखाई नहीं पढ़ सकते, पर हम यह देख सकते हैं कि उन्होंने क्या-क्या बनाया। और उन्होंने जो बनाया, वह हमें कुछ अहम बात बताता है। हमें मिट्टी की छोटी-छोटी स्त्री-मूर्तियाँ मिली हैं, बहुत सजी-धजी, जिन्हें विद्वान एक मातृ-देवी (माँ रूपी देवी) की मूर्तियाँ मानते हैं। इस तरह की मातृ-देवी की पूजा पूरी प्राचीन दुनिया में आम थी। सिंधु के लोग शायद प्रकृति को एक स्त्री-रूपी, जीवन देने वाली शक्ति मानते थे।

हमें एक मशहूर मुहर भी मिली है, जिसे "पशुपति मुहर" कहते हैं। इसमें एक आकृति योग जैसी मुद्रा में बैठी है, सिर पर सींग हैं, और चारों ओर जानवर हैं। कुछ विद्वान मानते हैं कि यह उस देवता का एक पुराना रूप है जो आगे चलकर शिव बने — हिंदू धर्म में संहार और ध्यान के देवता। अगर वे सही हैं, तो इसका मतलब है कि हिंदू धर्म के कुछ मूल विचार कम-से-कम 4,500 साल पुराने हैं — उस वैदिक धर्म से भी कहीं ज़्यादा पुराने, जिसकी बात हम अगले अध्याय में करेंगे।

कुछ और मूर्तियाँ ऐसी हैं जिनमें पवित्र पेड़ जैसा कुछ दिखता है, और लोग उनके पास प्रार्थना करते दिखते हैं। पेड़ की पूजा — बिल्कुल वैसे ही जैसे पेगन यूरोप में थी। साँड़ की मूर्तियों से लगता है कि साँड़ तभी से एक पवित्र जानवर था, जैसा वह आज भी हिंदू सोच में है (शिव की सवारी नंदी एक बैल ही है)। भले ही हम उनके लेख न पढ़ सकें, पर सिंधु घाटी की दिखने वाली संस्कृति कई अहम तरीक़ों से बाद के भारतीय धर्म से जुड़ी हुई महसूस होती है।

अचानक का पतन

और फिर, कहीं 1900 ई.पू. के आस-पास, सिंधु घाटी सभ्यता बिखरने लगी। 1300 ई.पू. तक, वे बड़े शहर ख़ाली हो चुके थे। हुआ क्या? लंबे समय तक इतिहासकार सोचते रहे कि यह कोई हमला रहा होगा। कुछ शुरुआती विद्वानों ने कल्पना की कि "आर्य" हमलावर आए और शहर जला गए। पर सबूत इसका साथ नहीं देते। हमें हथियारों या आग की वैसी परतें नहीं मिलतीं जैसी किसी फ़ौजी जीत में मिलनी चाहिए।

आज की सबसे अच्छी समझ यह है कि यह जलवायु परिवर्तन था। इसी समय के आस-पास, मानसून (बारिश) का ढर्रा बदल गया। जिन बड़ी नदियों पर शहर टिके थे, उनमें से एक — सरस्वती — सूख गई। फ़सलें मारी गईं। लोग हटने लगे। शहर किसी लड़ाई में तबाह नहीं हुए। वे बस धीरे-धीरे ख़ाली होते गए, क्योंकि लोग पूरब की ओर, गंगा के मैदान की ओर बढ़ गए, जहाँ अब भी पानी था। यही बात इतिहासकार मिशेल दानिनो अपनी 2010 की किताब *द लॉस्ट रिवर* में कहते हैं, और ज़्यादातर आधुनिक विद्वान इससे सहमत हैं।

पर अब अहम बात सुनिए। सिंधु के लोग ग़ायब नहीं हुए। उनके जीन (वंश के लक्षण) आज भी आधुनिक भारतीयों में मौजूद हैं, जैसा डीएनए के अध्ययनों ने पक्का किया है। (डीएनए वह चीज़ है जो माँ-बाप से बच्चों में लक्षण पहुँचाती है — इससे पता चलता है कौन किसका वंशज है।) उनके सांस्कृतिक विचार भी ग़ायब नहीं

हुए — मातृ-देवी, ध्यान की मुद्रा, पवित्र साँड़, स्नान का प्रेम — ये सब उस नई संस्कृति में समा गए जो बन रही थी।

भारत के बारे में यही पहला सबक़ है जो आपको समझना ज़रूरी है। भारत अपने से पहले की चीज़ को मिटाता नहीं। वह उसे अपने में समा लेता है। वह पुराने को लेकर नए में मोड़ देता है। सिंधु घाटी की जगह बाद की वैदिक संस्कृति ने नहीं ली — वह उसी में मिल-घुल गई। मिटाने के बजाय समा लेने का यह ढर्रा उन वजहों में से एक है, जिनके कारण हिंदू धर्म आगे चलकर हर हमले से बच गया।

XI.

वैदिक युग और एक ऐसे विचार का जन्म जो मरने से इनकार कर गया

सिंधु घाटी सभ्यता के मिटने के बाद, उत्तर भारत में एक नई संस्कृति उभरी। यह थी वैदिक संस्कृति, जो लगभग 1500 ई.पू. से 500 ई.पू. तक रही। यही वह समय है जब उस चीज़ की नींव पड़ी जिसे हम आज हिंदू धर्म कहते हैं। पर बात यह है — हिंदू धर्म असल में एक नहीं, बल्कि कई धर्मों का एक परिवार-जैसा है, जो कुछ साझी बातें रखते हैं। और ठीक इसी वजह से इसे मिटाना इतना मुश्किल साबित हुआ।

वैदिक लोग कौन थे?

यह भारतीय इतिहास के सबसे विवादित सवालों में से एक है। कुछ विद्वान मानते हैं कि लगभग 1500 ई.पू. के आस-पास "इंडो-आर्य" नाम के कुछ लोग मध्य एशिया से भारत आए, और अपने साथ अपनी भाषा, अपने देवता और अपने कर्मकांड लाए। वे यहाँ पहले से रह रहे लोगों के साथ मिल-घुल गए, जिनमें सिंधु घाटी सभ्यता के वंशज भी शामिल थे। इसी मेल से वैदिक संस्कृति बनी। इसे "आर्य प्रवास सिद्धांत" कहते हैं।

दूसरे विद्वान, ज़्यादातर राष्ट्रवादी भारतीय इतिहासकार, यह कहते हैं कि वैदिक लोग पहले से ही भारत में थे — ख़ुद सिंधु घाटी के लोगों के वंशज, और बाहर से कोई बड़ा प्रवास नहीं हुआ। इसे "आउट ऑफ़ इंडिया सिद्धांत" कहते हैं।

2018 और 2019 में बड़ी वैज्ञानिक पत्रिकाओं में छपे सबसे नए डीएनए सबूतों के आधार पर सच यह लगता है कि दोनों में कुछ-न-कुछ सच्चाई है। लगभग 2000 से 1500 ई.पू. के आस-पास, मध्य एशिया के मैदानों से भारत में लोगों का एक सचमुच का प्रवास हुआ था। पर इन आने वालों ने यहाँ की आबादी को हटाया नहीं। वे उसमें मिल गए। आधुनिक उत्तर भारतीयों में दोनों समूहों का वंश मिलता है। दक्षिण भारतीयों में पुरानी सिंधु घाटी का वंश ज़्यादा है। उत्तर भारतीयों में मैदानी (मध्य एशियाई) वंश ज़्यादा है। पर हर कोई मिला-जुला है।

हार्वर्ड के डेविड राइक और उनकी अंतरराष्ट्रीय टीम का आनुवंशिक अध्ययन, जो 2019 में *Science* पत्रिका में छपा, हमारे पास सबसे साफ़ सबूत है। यह कोई राजनीतिक राय नहीं है। यह बस वही है जो डीएनए दिखाता है। वैदिक संस्कृति पुरानी भारतीय आबादियों और बाहर से आए समूहों का एक मेल थी, और इस मेल से कुछ नया और निराला बना।

वेद: सबसे पुरानी किताबें जो आज भी इस्तेमाल में हैं

> **"वेद" क्या हैं?** वेद हिंदू धर्म के सबसे पुराने पवित्र ग्रंथ हैं — संस्कृत भाषा में रची गई धार्मिक कविताओं/स्तुतियों का संग्रह। (संस्कृत प्राचीन भारत की एक बहुत पुरानी और बारीक भाषा है, जिसमें ज़्यादातर पुराने भारतीय ग्रंथ

> लिखे गए।)

शुरू में वैदिक लोगों के पास शहर नहीं थे, पर उनके पास कुछ और था। उनके पास कविताएँ थीं — लंबी, सुंदर, गहरी धार्मिक कविताएँ। इन कविताओं को पुजारी ज़बानी याद रखते थे और हज़ार साल से भी ज़्यादा समय तक मुँह-ज़बानी आगे पहुँचाते रहे, इससे पहले कि उन्हें लिखा गया। जब आख़िरकार उन्हें लिखा गया, तो वे वेद बने — हिंदू धर्म के सबसे पुराने पवित्र ग्रंथ।

चार वेद हैं। सबसे अहम और सबसे पुराना है ऋग्वेद। इसमें अलग-अलग देवताओं की 1,028 स्तुतियाँ हैं, जो 10 "मंडल" नाम की किताबों में बँटी हैं। विद्वान मानते हैं कि ऋग्वेद के सबसे पुराने हिस्से लगभग 1500 ई.पू. में रचे गए, हालाँकि कुछ हिंदू परंपराएँ इसे इससे भी कहीं पुराना मानती हैं। फिर आते हैं यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, जो अगली कई सदियों में रचे गए।

अब वह बात सुनिए जो आपका मन हिला देगी। वेदों को 3,000 साल से ज़्यादा समय तक, मुँह-ज़बानी, लगभग बिल्कुल सही-सही आगे पहुँचाया गया है। वैदिक पुजारियों ने हर मंत्र को बोलने के ग्यारह अलग-अलग तरीक़े विकसित किए, जिनमें अक्षरों का क्रम बदला हुआ होता था, ताकि अगर एक रूप में कोई ग़लती हो जाए, तो बाक़ी रूप उसे ठीक कर सकें। यह व्यवस्था इतनी अच्छी थी कि 2003 में यूनेस्को ने वैदिक मंत्रोच्चार को "मानवता की मौखिक एवं अमूर्त धरोहर की उत्कृष्ट कृति" माना।

ज़रा सोचिए। जहाँ प्राचीन यूनानी कवि होमर जैसी रचनाएँ सदियों में कुछ भुला दी गईं और कुछ दोबारा जोड़कर बनाई गईं, वहीं वेद लगभग शब्द-दर-शब्द, अपनी मूल प्राचीन संस्कृत भाषा में बचे रहे — सिर्फ़ इसलिए कि प्रशिक्षित पुजारी पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन्हें बोलते रहे। यह मानव की याददाश्त और अनुशासन की महान उपलब्धियों में से एक है।

वैदिक देवता: एक नई धरती में पुराने दोस्त

वेद हमें बताते हैं कि वैदिक लोग किसकी पूजा करते थे। और यहीं हमारी कहानी के लिए बात दिलचस्प होती है। वैदिक देवता पेगन यूरोप के देवताओं से बहुत मिलते-जुलते हैं।

शुरुआती वैदिक काल का मुख्य देवता था इंद्र — गर्जना और बारिश का देवता। जाना-पहचाना लगता है? इंद्र, नॉर्स के थोर, स्लाव के पेरुन, यूनानियों के ज़ीउस, रोमनों के जुपिटर, और बाल्ट के पेरकुनास का रिश्तेदार है। (ये सब भाग पहले में आए गर्जना के देवता थे।) ये सारे गर्जना-देवता एक ही प्रोटो इंडो-यूरोपियन मूल से आते हैं। इंद्र साँपों और दानवों से लड़ता है, "सोम" नाम का जादुई पेय पीता है, और रथ पर सवार होता है। ज़ीउस साँपों और दानवों से लड़ता है, "एम्ब्रोसिया" पीता है, और बिजली फेंकता है। ये भाई हैं, बस समय और दूरी ने इन्हें अलग कर दिया।

अग्नि आग का देवता था। आग वैदिक कर्मकांड के केंद्र में है। आज भी हिंदू विवाह, अंतिम संस्कार और कई धार्मिक रस्मों में एक पवित्र अग्नि होती है। पिता के लिए वैदिक शब्द है "पितृ"। आकाश-पिता के लिए संस्कृत शब्द है "द्यौस् पिता"। रोमन शब्द है "जुपिटर", जो "द्येउस् पातेर" से बना। यूनानी है "ज़ीउस पातेर"। एक ही शब्द। एक ही देवता। एक ही प्राचीन परिवार।

सूर्य सूरज का देवता था। सोम एक पवित्र पेय भी था और एक देवता भी। वायु हवा थी। वरुण ब्रह्मांडीय व्यवस्था थे। उषा भोर (सुबह की पहली रोशनी) थी, जो यूनानी "ईओस" और रोमन "ऑरोरा" से जुड़ी है। वैदिक धर्म, ईसाई धर्म के आने से पहले के यूरोप के धर्मों का एक बहन-धर्म था।

> *"वेदों के देवता और पेगन यूरोप के देवता, एक साझे इंडो-यूरोपियन पूर्वज-धर्म से उतरे हैं, जो लगभग 6,000 साल पहले यूरेशिया के मैदानों में मौजूद था।"*
>
> *— वेंडी डोनिगर, द हिंदूज़: एन ऑल्टरनेटिव हिस्ट्री, 2009। डोनिगर हिंदू अध्ययन की एक प्रमुख विद्वान हैं।*

उपनिषद: बड़े सवाल

लगभग 800 ई.पू. के आस-पास, भारत में कुछ असाधारण हुआ। शायद लोग सिर्फ़ कर्मकांड करते-करते थक गए। शायद उन्होंने गहरे सवाल पूछने शुरू किए। वजह जो भी हो, ग्रंथों का एक नया समूह सामने आने लगा। ये थे उपनिषद।

> **"उपनिषद" क्या हैं?** उपनिषद वैदिक परंपरा के दार्शनिक ग्रंथ हैं — देवताओं की स्तुतियाँ नहीं, बल्कि गहरे सवालों पर गुरु और शिष्य की बातचीत। ("दर्शन" यानी जीवन, सच और आत्मा के बारे में गहराई से सोचना-समझना।)

उपनिषद देवताओं की स्तुतियाँ नहीं हैं। वे दार्शनिक बातचीत हैं। एक शिष्य जंगल में अपने गुरु के पास बैठता है, और वे इंसान के पूछ सकने वाले सबसे गहरे सवालों पर चर्चा करते हैं। असली क्या है? "मैं" कौन है? हम दुख क्यों भोगते हैं? मरने पर क्या होता है? क्या कोई ईश्वर है?

उपनिषदों ने जो जवाब दिए, वे बाद के सारे हिंदू विचार की दार्शनिक नींव बन गए, और उन्होंने बौद्ध, जैन, सिख, और बाद में ईसाई तथा इस्लामी रहस्यवादी परंपराओं तक को प्रभावित किया। दो सबसे अहम विचार थे:

ब्रह्मन। यह विचार कि ब्रह्मांड की इस सारी दिखने वाली विविधता के पीछे, एक ही मूल सच्चाई है। सारे देवता, सारे तारे, सारे लोग, सारे जानवर — यह सब एक ही मूल चीज़ के अलग-अलग रूप हैं। यह विचार उसी से मिलता-जुलता है जिसे दार्शनिक "अद्वैतवाद" कहते हैं — यानी सब कुछ एक ही है।

आत्मन। यह विचार कि आपके अपने भीतर का सबसे गहरा हिस्सा भी वही ब्रह्मन है। आपके अंदर का "मैं" वही है जो ब्रह्मांडीय "मैं" है। छांदोग्य उपनिषद का मशहूर वाक्य है "तत् त्वम् असि", यानी "वह तुम ही हो।" आप ब्रह्मांड से अलग नहीं हैं। आप ख़ुद ब्रह्मांड हैं, जो ख़ुद को देख रहा है।

ये सीधे-सादे विचार नहीं हैं। इन्हें ठीक से समझने में बरसों लगते हैं। पर बात यह है — भारतीय सोच 800 ई.पू. में ही इस स्तर का दर्शन रच रही थी। इसकी तुलना उसी समय के यूरोप से कीजिए, जो अभी शुरुआती लौह-युग में था, ज़्यादातर मुँह-ज़बानी क़बीलाई धर्म के साथ, और जिसका कोई लिखित दर्शन आज नहीं बचा। भारतीय चिंतक सच्चाई की प्रकृति के बारे में वे सवाल पूछ रहे थे जो प्लेटो जैसे यूरोपीय दार्शनिक और 400 साल तक नहीं पूछने वाले थे।

यह हमारी कहानी के लिए क्यों मायने रखता है

मैं इस पर समय इसलिए ले रहा हूँ क्योंकि यह अहम है। जब आगे चलकर इस्लाम और ईसाई धर्म ने भारत को बदलने की कोशिश की, तो वे किसी ऐसी जगह नहीं आ रहे थे जहाँ धार्मिक सोच ही न हो। वे ऐसी जगह आ रहे थे जो पहले ही 1,000 साल से ज़्यादा समय मानव-इतिहास का कुछ सबसे गहरा दर्शन रचने में लगा चुकी थी। भारतीय सारे बड़े सवाल पहले ही पूछ चुके थे। वे ईश्वर, आत्मा, दुख, मुक्ति और नैतिकता पर सोच चुके थे। उनके पास पहले से ही आपस में बहस करते कई विचार-स्कूल थे।

इससे धर्म बदलवाना बहुत मुश्किल हो गया। ज़रा सोचिए, किसी ऐसे देश को नया धर्म पकड़ाने की कोशिश करना जो दर्शन के प्रोफ़ेसरों से भरा हो। वे कड़े सवाल पूछेंगे। वे आपके विचारों की तुलना उन विचारों से करेंगे जो वे पहले से जानते हैं। वे किसी विदेशी प्रचारक के कहने भर से बातें नहीं मान लेंगे। यह उन वजहों में से एक है जिनके कारण भारत सदियों के विदेशी राज में भी बड़े पैमाने पर धर्म-परिवर्तन के आगे इतना अड़ियल साबित हुआ।

बुद्ध और 500 ई.पू. का महान धार्मिक विस्फोट

लगभग 500 ई.पू. के आस-पास, भारत में वह हुआ जिसे कुछ इतिहासकार उसकी "महान धार्मिक क्रांति" कहते हैं। सिर्फ़ एक सदी या उससे थोड़े ज़्यादा समय में, दो बड़े नए धर्म सामने आए। दोनों पुराने वैदिक धर्म की कुछ कमियों के जवाब में आए — ख़ास तौर पर उसके बलि वाले कर्मकांड पर ज़ोर, और ब्राह्मण पुजारी-वर्ग की बढ़ती ताक़त के जवाब में।

महावीर, जिनका जन्म लगभग 599 ई.पू. में हुआ, ने जैन धर्म चलाया। जैन धर्म ने बेहद कड़ी अहिंसा (किसी जीव को न मारना) सिखाई। आज भी पारंपरिक जैन साधु अपने आगे की ज़मीन झाड़कर चलते हैं, ताकि ग़लती से किसी कीड़े पर पैर न पड़ जाए। वे अपना मुँह ढक लेते हैं, ताकि ग़लती से कोई नन्हा जीव साँस के साथ अंदर न चला जाए। अहिंसा के प्रति जैन धर्म की इस लगन ने उसके बाद की भारतीय सोच की हर चीज़ को प्रभावित किया।

सिद्धार्थ गौतम, जिनका जन्म लगभग 563 ई.पू. में हुआ (जो आज नेपाल में है), ने बौद्ध धर्म चलाया। वे एक राजकुमार थे, जिन्होंने दुख का कारण ढूँढने के लिए अपना महल छोड़ दिया। बरसों के ध्यान के बाद, उन्होंने दावा किया कि उन्हें बोधगया (आज के बिहार में) में एक पेड़ के नीचे ज्ञान (बोध) मिल गया। उन्होंने अगले 45 साल "चार आर्य सत्य" और "अष्टांगिक मार्ग" का उपदेश दिया। उनकी शिक्षाएँ पूरे एशिया में फैल गईं। 200 ई.पू. तक बौद्ध धर्म भारत का सबसे लोकप्रिय धर्म था। 1000 ईस्वी तक यह चीन, जापान, कोरिया, वियतनाम, तिब्बत, मंगोलिया, श्रीलंका और दक्षिण-पूर्व एशिया का प्रमुख धर्म बन चुका था।

महावीर और बुद्ध — दोनों ने बिना हिंसा के उपदेश दिया। उन्हें अपने विचार फैलाने के लिए न शाही शादियों की ज़रूरत पड़ी, न फ़ौजों की। उन्होंने लोगों को तर्क, अपने उदाहरण और अपने व्यक्तित्व के असर से समझाया। उनके धर्म कुछ ही सदियों में लगभग पूरे एशिया में फैल गए, ज़्यादातर शांति से। यह इस बात से एक दिलचस्प उलटा है कि बाद में ईसाई धर्म यूरोप में फ़ौजों और शाही फ़रमानों के साथ कैसे फैला।

500 ई.पू. तक भारत ने क्या खड़ा कर लिया था

आइए, संक्षेप में देखें कि 2,500 साल पहले भारत कहाँ था। उसके पास था:

- 1,000 साल से भी पुरानी धार्मिक कविता के, ज़बानी याद किए हुए, पूरे “पुस्तकालय”
- एक दार्शनिक परंपरा (उपनिषद), जो सच्चाई के बारे में सबसे गहरे सवाल पूछ रही थी
- तीन बड़े धर्म साथ-साथ (हिंदू, बौद्ध, जैन), सब शांति से मिल-जुलकर
- एक बारीक भाषा, संस्कृत, जिसके व्याकरण के नियम इतने सटीक हैं कि आधुनिक कंप्यूटर-वैज्ञानिकों ने भी इनकी तारीफ़ की है
- शहर, राज्य, व्यापार-मार्ग, और एक लिपि (ब्राह्मी), जो ज़्यादातर आधुनिक दक्षिण-एशियाई लिपियों की पुरखा है

जब यूरोप अभी ज़्यादातर क़बीलाई था, तब भारत राज्यों का एक जाल था जिसमें विश्वविद्यालय, पुस्तकालय और सदियों की दार्शनिक परंपरा थी। यह डींग नहीं है। यह इतिहास का दर्ज रिकॉर्ड है। और यह अगले अध्याय की ज़मीन तैयार करता है, जहाँ हम शास्त्रीय भारतीय सभ्यता के असली स्वर्ण-युगों को देखेंगे।

XII.

स्वर्ण-युग: मौर्य, गुप्त, और अपने शिखर पर एक सभ्यता

अब हम भारतीय इतिहास के उन हिस्सों पर आते हैं जो दुनिया के हर स्कूल में पढ़ाए जाने चाहिए, पर ज़्यादातर पढ़ाए नहीं जाते। ये वे दौर हैं जब भारत, ज़्यादातर पैमानों पर, धरती की सबसे आगे की सभ्यता था। सिर्फ़ कुल आकार में सबसे अमीर ही नहीं — हालाँकि वह भी था — बल्कि गणित में सबसे नया-नया खोजने वाला, कला में सबसे परिष्कृत, और दर्शन में सबसे महत्वाकांक्षी भी।

मौर्य साम्राज्य: एकजुट भारत

> **"साम्राज्य" और "राजवंश" क्या हैं?** साम्राज्य यानी एक बहुत बड़ा राज्य, जिसके नीचे कई इलाक़े और लोग हों। राजवंश (डायनेस्टी) यानी एक ही ख़ानदान की राजाओं की कतार, जो एक के बाद एक राज करती है।

326 ई.पू. में, सिकंदर महान ने भारत के उत्तर-पश्चिमी किनारे पर हमला किया। उसने झेलम नदी के किनारे पोरस नाम के एक भारतीय राजा से एक बड़ी लड़ाई लड़ी। सिकंदर लड़ाई जीता, पर बमुश्किल। उसके साथ चल रहे यूनानी इतिहासकारों के मुताबिक़, सिकंदर पोरस की बहादुरी से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उसका राज्य उसे लौटा दिया, और कुछ इलाक़ा और भी जोड़ दिया। सिकंदर के अपने सिपाहियों ने भारत के अंदर और आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। उन्होंने पूरब में और भी बड़ी भारतीय फ़ौजों के इंतज़ार में होने की बात सुनी थी, और वे थक चुके थे। वे लौट गए।

सिकंदर के जाने के कुछ ही साल के भीतर, चंद्रगुप्त मौर्य नाम के एक भारतीय सेनापति ने तत्कालीन नंद वंश को उखाड़ फेंका और उस साम्राज्य की नींव रखी जो भारत का अब तक का सबसे बड़ा साम्राज्य बनने वाला था। 300 ई.पू. तक, मौर्य साम्राज्य पश्चिम में आज के अफ़ग़ानिस्तान से लेकर पूरब में बांग्लादेश तक, और उत्तर में हिमालय से लेकर ज़्यादातर दक्षिण भारत तक फैला था।

मौर्य साम्राज्य के बारे में हमें कई स्रोतों से पता है, जिनमें मेगस्थनीज़ नाम का एक यूनानी राजदूत भी शामिल है, जो लगभग 300 ई.पू. में मौर्य राजधानी पाटलिपुत्र (आज का पटना) में रहा। मेगस्थनीज़ ने *इंडिका* नाम की किताब लिखी। किताब ख़ुद तो खो गई, पर दूसरे यूनानी लेखकों ने उसके हिस्से उद्धृत किए। उसने पाटलिपुत्र को अपने देखे किसी भी शहर से बड़ा बताया — 30 किलोमीटर के घेरे की लकड़ी की दीवारें, 64 दरवाज़े, और 570 बुर्ज। आबादी कहीं 2,50,000 से 4,00,000 के बीच थी। तुलना के लिए — उसी समय रोम में शायद 1,50,000 लोग थे, और एथेंस में लगभग 1,00,000।

चाणक्य: वह प्राचीन रणनीतिकार जिसने ताक़त पर किताब लिख दी

जिस आदमी ने चंद्रगुप्त को सलाह दी और साम्राज्य जीतने में उसकी मदद की, उसका नाम था चाणक्य, जिसे कौटिल्य भी कहते हैं। चाणक्य तक्षशिला के प्राचीन विश्वविद्यालय में शिक्षक था (जो आज पाकिस्तान में है)। उसने *अर्थशास्त्र* नाम की किताब लिखी, जो राजनीति, युद्ध, अर्थव्यवस्था और राज-काज पर अब तक लिखी गई सबसे अहम किताबों में से एक है।

अर्थशास्त्र लगभग 300 ई.पू. में लिखी गई, यानी यह मैकियावेली की मशहूर किताब *द प्रिंस* से 1,800 साल पुरानी है। और ईमानदारी से कहूँ, अर्थशास्त्र कहीं ज़्यादा गहराई से लिखी गई है। मैकियावेली की किताब लगभग 100 पन्नों की है। अर्थशास्त्र 600 से ज़्यादा पन्नों की है। इसमें सब कुछ है — जासूसी का जाल कैसे चलाएँ, व्यापार-मार्ग कैसे सँभालें, खानों का निरीक्षण कैसे करें, फ़सल कैसे उगाएँ, मंत्री कैसे चुनें, ग़द्दारों से कैसे निपटें।

चाणक्य का बुनियादी दर्शन यह था कि राजा का एक ही काम है — अपनी प्रजा की भलाई पक्की करना। बाक़ी सब कुछ, यहाँ तक कि आम मायने वाली नैतिकता भी, अगर प्रजा की भलाई में काम आए तो किनारे रखी जा सकती है। यह अपने सबसे कठोर रूप में "यथार्थवादी" राजनीतिक सोच है। आधुनिक राजनीति-शास्त्री आज भी अर्थशास्त्र पढ़ते हैं।

अशोक महान: एक विजेता जिसने जीतना छोड़ दिया

चंद्रगुप्त के पोते का नाम था अशोक। उसने 268 ई.पू. से 232 ई.पू. तक राज किया। अशोक की शुरुआत एक आम आक्रामक राजा की तरह हुई। उसने कलिंग (मोटे तौर पर आज का ओडिशा) को जीतने के लिए एक बेहद ख़ूनी युद्ध लड़ा। उसके अपने ही बाद के अभिलेखों के मुताबिक़, 1,00,000 लोग मारे गए और 1,50,000 बंदी बना लिए गए। युद्ध के बाद भुखमरी और बीमारी से और भी कई मरे।

पर फिर कुछ अजीब हुआ। अशोक अपने किए से सिहर उठा। उसने बौद्ध धर्म अपना लिया। उसने हिंसा को राज-नीति के औज़ार के तौर पर त्याग दिया। उसने अपना नया दर्शन अपने पूरे साम्राज्य में चट्टानों और पत्थर के स्तंभों पर खुदवा दिया — कई भाषाओं में, जिनमें स्थानीय लिपि और यूनानी (अपने पश्चिमी इलाक़ों में, पुरानी यूनानी बस्तियों के पास) भी शामिल थी। इनमें से कुछ स्तंभ और चट्टानें आज भी खड़ी हैं, और आप उसके शब्द पढ़ सकते हैं। ये भारत में बचे हुए सबसे पुराने बड़े लेख हैं।

अशोक के अभिलेख लोगों से कहते हैं कि वे सब धर्मों का आदर करें, सेवकों के साथ अच्छा बरताव करें, जानवरों का ख़याल रखें, और हिंसा से बचें। उसने सिर्फ़ इंसानों के लिए ही नहीं, जानवरों के लिए भी अस्पताल बनवाए। उसने अपने महल में पशु-बलि पर रोक लगाई। उसने श्रीलंका, बर्मा, मिस्र, सीरिया, यूनान और मेसेडोनिया तक बौद्ध प्रचारक भेजे।

ज़रा सोचिए। जब दुनिया का ज़्यादातर हिस्सा अब भी ऐसे सरदारों के राज में था जो अपनी महानता इस बात से नापते थे कि उन्होंने कितने लोग मारे, तब भारत में एक राजा था जिसने पत्थर पर खुदवाया कि उसे उन लोगों का दुख है जिन्हें उसने मारा, और काश उसने ऐसा न किया होता। पूरे प्राचीन इतिहास में अशोक जैसा कोई दूसरा शासक नहीं है। इतिहासकार एच. जी. वेल्स ने 1920 में अपनी किताब *आउटलाइन ऑफ़ हिस्ट्री* में उसके बारे में मशहूर बात लिखी।

> *"इतिहास के स्तंभों को भरने वाले हज़ारों राजाओं के नामों के बीच, अशोक का नाम चमकता है, और लगभग अकेला ही चमकता है — एक तारे की तरह।"*
>
> *— एच. जी. वेल्स, द आउटलाइन ऑफ़ हिस्ट्री, 1920*

अशोक का प्रतीक — एक पत्थर के स्तंभ के ऊपर चार शेर — आज आधुनिक भारत का राष्ट्रीय प्रतीक है। उसी स्तंभ का चक्र भारत के झंडे के बीच में है। अशोक आज भी भारतीय पहचान के लिए कितना अहम है, यह उसी से पता चलता है।

गुप्त साम्राज्य: भारत का शास्त्रीय स्वर्ण-युग

मौर्य साम्राज्य अशोक की मृत्यु के लगभग 50 साल बाद आख़िरकार ढह गया। भारत फिर छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। पर फिर, लगभग 320 ईस्वी में, एक और महान राजवंश उभरा। यह था गुप्त वंश, जिसे कभी-कभी भारत का स्वर्ण-युग कहा जाता है।

गुप्त साम्राज्य इलाक़े के हिसाब से मौर्य साम्राज्य जितना विशाल नहीं था, पर वह उससे ज़्यादा अमीर, सांस्कृतिक रूप से ज़्यादा रचनात्मक, और विज्ञान में ज़्यादा आगे था। गुप्त काल — मोटे तौर पर 320 ईस्वी से 550 ईस्वी — वह समय है जब भारत ने कला, गणित, खगोल-विज्ञान और साहित्य की कुछ अपनी सबसे महान रचनाएँ कीं।

गुप्त काल में हुई कुछ बातें:

- गणितज्ञ आर्यभट (जन्म 476 ईस्वी) ने *आर्यभटीय* नाम की किताब लिखी। इसमें उसने सही-सही बताया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है, इसीलिए तारे आसमान में चलते हुए लगते हैं। उसने सौर वर्ष की लंबाई 365.358 दिन निकाली, जो सिर्फ़ कुछ घंटे ही ग़लत है। उसने "पाई" का मान चार दशमलव तक निकाला। उसने त्रिकोणमिति (ज्यामिति की एक शाखा) की नींव रखी। और यह सब 499 ईस्वी में, जब यूरोप का ज़्यादातर हिस्सा रोम के ढहने की मुश्किलों से जूझ रहा था।
- कवि कालिदास ने अपने महान नाटक और काव्य रचे, जिनमें *शाकुंतल* भी है, जो भारतीय साहित्य की सबसे मशहूर रचनाओं में से एक बनी। 1791 में जब इसका जर्मन में अनुवाद हुआ, तो दार्शनिक गोएटे इससे इतना भाव-विभोर हुआ कि उसने इसकी तारीफ़ में एक कविता लिख डाली।
- भारतीय शास्त्रीय संगीत की राग और ताल वाली व्यवस्था ने अपना अंतिम रूप लेना शुरू किया।
- भारतीय चिकित्सा बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँची। *सुश्रुत संहिता*, इसी दौर के आस-पास का एक चिकित्सा-ग्रंथ, 300 से ज़्यादा शल्य-क्रियाओं (ऑपरेशन) का वर्णन करता है, जिनमें मोतियाबिंद का ऑपरेशन और नाक की प्लास्टिक सर्जरी शामिल है। जी हाँ, प्लास्टिक सर्जरी। भारतीय डॉक्टर 600 ईस्वी में नाक की प्लास्टिक सर्जरी कर रहे थे।
- नालंदा विश्वविद्यालय की नींव पड़ी, जो आज के बिहार में है। नालंदा पर हम एक पल में लौटेंगे, क्योंकि वह अपनी अलग चर्चा का हक़दार है।

फ़ाह्यान: वह चीनी भिक्षु जो आया

हमें कैसे पता कि गुप्त काल में भारत अमीर और शांत था? क्योंकि हमारे पास आँखों-देखे हाल हैं। फ़ाह्यान नाम का एक चीनी बौद्ध भिक्षु 399 ईस्वी और 414 ईस्वी के बीच चीन से भारत आया। वह बौद्ध ग्रंथ इकट्ठा करने और बौद्ध धर्म के पवित्र स्थल देखने आया था। उसने भारत में लगभग दस साल बिताए, फिर घर लौटकर अपनी यात्रा का विस्तृत हाल लिखा।

फ़ाह्यान ने भारत को एक शांत और समृद्ध जगह बताया। उसने कहा कि सड़कें सुरक्षित थीं। उसने कहा कि लोगों को अपने दरवाज़े बंद रखने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। उसने कहा कि सरकार का हाथ हल्का था — लोगों को अधिकारियों के यहाँ नाम दर्ज कराने या काग़ज़ात साथ रखने की ज़रूरत नहीं थी। सज़ाएँ ज़्यादातर जुर्माने की थीं, शारीरिक नहीं। ज़्यादातर लोग शाकाहारी थे। सार्वजनिक अस्पताल थे, जहाँ बीमार लोग मुफ़्त इलाज के लिए जा सकते थे।

दो सौ साल बाद, ह्वेनसांग नाम के एक और चीनी भिक्षु ने वही यात्रा की। उसने भारत में पंद्रह साल बिताए, 630 ईस्वी से 645 ईस्वी तक, और उसका हाल तो और भी विस्तृत है। उसने नालंदा विश्वविद्यालय में बरसों पढ़ाई की। उसकी यात्रा-लिखाई हमें शास्त्रीय भारत में झाँकने की सबसे अच्छी खिड़कियों में से एक देती है।

नालंदा: प्राचीन दुनिया का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय

मैं नालंदा विश्वविद्यालय पर थोड़ा समय बिताना चाहता हूँ, क्योंकि यह इतिहास की सबसे अद्भुत संस्थाओं में से एक है, और ज़्यादातर लोग — यहाँ तक कि ज़्यादातर भारतीय भी — इसके बारे में बहुत कम जानते हैं।

नालंदा की नींव लगभग 427 ईस्वी में आज के बिहार में पड़ी। 600 के दशक तक, जब ह्वेनसांग आया, वहाँ 10,000 से ज़्यादा विद्यार्थी और लगभग 2,000 शिक्षक थे। जी हाँ, आपने सही पढ़ा। दस हज़ार विद्यार्थी। एक ही विश्वविद्यालय में। 600 के दशक में।

इसे समझने के लिए — ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय की नींव 1096 ईस्वी में पड़ी, यानी नालंदा के चलते-चलते लगभग 700 साल बाद। जब ऑक्सफ़ोर्ड शुरू हुआ, उसमें कुछ दर्जन विद्यार्थी थे। नालंदा सदियों से हज़ारों विद्यार्थियों के साथ चल रहा था।

नालंदा एक आवासीय विश्वविद्यालय था (जहाँ विद्यार्थी रहते भी थे)। पूरे एशिया से विद्यार्थी वहाँ पढ़ने आते थे — चीन, कोरिया, जापान, तिब्बत, श्रीलंका, इंडोनेशिया, फ़ारस और तुर्की से। उन्हें दाख़िले की परीक्षा पास करनी पड़ती थी। ह्वेनसांग ने कहा कि सिर्फ़ लगभग 30 प्रतिशत आवेदकों को ही दाख़िला मिलता था। परिसर में कई मंदिर, पुस्तकालय, छात्रावास, व्याख्यान-कक्ष और बाग़ थे, सब ईंट के, एक तय नक़्शे पर बने। यह अपने आप में एक छोटा शहर था।

वहाँ क्या पढ़ाया जाता था? लगभग सब कुछ। बौद्ध दर्शन मुख्य विषय था, पर वे हिंदू वैदिक अध्ययन, तर्कशास्त्र, व्याकरण, चिकित्सा, खगोल-विज्ञान, गणित, तत्व-मीमांसा, और शायद इससे भी कहीं ज़्यादा पढ़ाते थे। पुस्तकालय, जिसे "धर्मगंज" कहते थे, तीन इमारतों में था। उनमें से एक नौ मंज़िला ऊँची थी। कहा जाता है कि उसमें लाखों हस्तलिखित ग्रंथ थे।

नालंदा, उतार-चढ़ाव के साथ, लगभग 800 साल तक चलता रहा। फिर 1193 ईस्वी में, यह तबाह कर दिया गया। तुर्क हमलावर बख़्तियार ख़िलजी ने उत्तर भारत की शुरुआती इस्लामी विजय के दौरान इसे जलाकर

राख कर दिया। फ़ारसी इतिहासकार मिन्हाज-ए-सिराज, जिसने इसके बारे में कुछ ही दशक बाद लिखा, के मुताबिक़ पुस्तकालय तीन महीने तक जलता रहा। तीन महीने तक न दोबारा मिलने वाला ज्ञान धुएँ में उड़ता रहा। हज़ारों भिक्षु मारे गए। विश्वविद्यालय फिर कभी दोबारा नहीं बना।

इस तबाही पर हम अगले अध्याय में लौटेंगे। फ़िलहाल, बस यह समझिए कि क्या खोया। कल्पना कीजिए कि आज कोई विदेशी फ़ौज ऑक्सफ़ोर्ड, कैम्ब्रिज, हार्वर्ड और येल — सब एक साथ तबाह कर दे, और उनकी हर किताब जला दे। नालंदा के साथ यही हुआ। और हम आज भी उस सारे ज्ञान का खोना महसूस करते हैं। हम नहीं जानते कि भारतीय गणित, विज्ञान और दर्शन का कितना हिस्सा उन लपटों में मर गया।

> *"नालंदा का विनाश दुनिया के इतिहास की सबसे बड़ी सांस्कृतिक तबाहियों में से एक था, अलेक्ज़ांद्रिया के पुस्तकालय के विनाश के बराबर।"*
>
> *— रोमिला थापर, प्रख्यात भारतीय इतिहासकार, द पेंगुइन हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली इंडिया, 2002*

भारतीय अर्थव्यवस्था कितनी बड़ी थी?

> **"जीडीपी" क्या है?** जीडीपी (GDP) किसी देश में एक साल में बनी सारी चीज़ों और सेवाओं की कुल क़ीमत है। आसान शब्दों में — यह नापने का एक तरीक़ा है कि कोई अर्थव्यवस्था कितनी बड़ी है। "विश्व जीडीपी का एक तिहाई" का मतलब है कि उस वक़्त दुनिया भर में जितनी कमाई हो रही थी, उसका लगभग एक-तिहाई अकेले भारत में था।

आइए, कुछ आर्थिक आँकड़े देखें, क्योंकि यह हिस्सा कम ही पढ़ाया जाता है और अहम है। ब्रिटिश अर्थशास्त्री एंगस मैडिसन ने अपना पूरा जीवन पुराने ज़माने की अर्थव्यवस्थाओं का आकार आँकने में लगाया। उसका शोध इतिहासकारों और विश्व बैंक का मानक संदर्भ है।

मैडिसन के अनुमानों के मुताबिक़, 1 ईस्वी में, भारत के पास दुनिया की कुल जीडीपी का लगभग एक-तिहाई था। चीन के पास एक और चौथाई। मिलाकर, भारत और चीन दुनिया की अर्थव्यवस्था का लगभग 60 प्रतिशत थे। यूरोप एक छोटा खिलाड़ी था। रोम अपने शिखर पर अमीर था, पर पूरा पश्चिमी रोमन साम्राज्य मिलाकर भी शायद अकेले भारत से बड़ा नहीं था।

1000 ईस्वी तक, भारत के पास अब भी विश्व जीडीपी का लगभग 25 से 30 प्रतिशत था। 1500 ईस्वी तक भी यह लगभग 24 प्रतिशत था। जब अंग्रेज़ 1700 के दशक में अपना साम्राज्य बनाना शुरू ही कर रहे थे, तब भी भारत दुनिया की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था था। 1700 तक भारत के पास विश्व जीडीपी का लगभग 24 प्रतिशत था — चीन से थोड़ा ज़्यादा, और किसी भी यूरोपीय ताक़त से कहीं ज़्यादा।

फिर आती है ब्रिटिश विजय, भारत के उद्योगों का तोड़ा जाना, अकाल, धन का निचोड़ा जाना — और 1947 तक, जब अंग्रेज़ गए, विश्व जीडीपी में भारत का हिस्सा गिरकर लगभग 4 प्रतिशत रह गया। पर वह कहानी इस किताब के भाग तीन की है।

बात यह है कि दर्ज इतिहास के लगभग 2,000 साल तक, भारत धरती की दो सबसे अमीर सभ्यताओं में से एक रहा। यह कोई पिछड़ी जगह नहीं था। यह ग़रीब नहीं था। यह तकनीक में पीछे नहीं था। यह, मानव-इतिहास के ज़्यादातर समय, लगभग हर नापे जा सकने वाले पैमाने पर यूरोप से आगे था।

XIII.

भारत ने दुनिया को क्या दिया

आइए, एक पूरा अध्याय इस पर देते हैं कि भारत ने मानव-ज्ञान में ख़ास तौर पर क्या-क्या दिया। यह डींग नहीं है। यह बस इतिहास का रिकॉर्ड है। इनमें से बहुत-सी चीज़ें आज इतनी आम हैं कि हम भूल जाते हैं कि इन्हें कहीं-न-कहीं तो किसी ने ईजाद किया ही होगा। ये भारत में ईजाद हुईं।

शून्य (ज़ीरो) की संख्या

मैं सबसे बड़ी चीज़ से शुरू करता हूँ। भारत ने शून्य ईजाद किया।

दूसरी सभ्यताओं के पास "कुछ नहीं" का ख़याल था। बेबीलोन वालों ने एक जगह-भरने वाला चिह्न इस्तेमाल किया। माया लोगों के पास "ख़ाली" का एक चिह्न था। पर शून्य को एक असली संख्या मानकर, जिससे गणित किया जा सके, सबसे पहले भारत ने माना। शून्य जमा पाँच बराबर पाँच। शून्य गुणा पाँच बराबर शून्य। शून्य की वजह से ही ऋणात्मक (माइनस) संख्याएँ हो सकती हैं। शून्य की वजह से दशमलव हो सकता है। शून्य की वजह से बीजगणित (अलजेब्रा) हो सकता है। शून्य के बिना आधुनिक गणित नामुमकिन है। और आधुनिक गणित के बिना आधुनिक विज्ञान नामुमकिन है। और आधुनिक विज्ञान के बिना आधुनिक तकनीक नामुमकिन है।

शून्य को एक संख्या के तौर पर, उसके सारे गणित-नियमों के साथ, सबसे पहले साफ़-साफ़ इस्तेमाल करते हुए हम ब्रह्मगुप्त नाम के एक भारतीय गणितज्ञ के काम में पाते हैं। अपनी किताब *ब्रह्मस्फुटसिद्धांत* में, जो 628 ईस्वी में लिखी गई, ब्रह्मगुप्त ने बताया कि शून्य कैसे काम करता है। उसने यह तय किया कि जब आप शून्य को जोड़ते, घटाते, गुणा या भाग करते हैं तो क्या होता है। उसने ऋणात्मक संख्याओं के साथ भी काम किया, जो भी एक भारतीय खोज थी।

भारतीय संख्या-व्यवस्था, अपने दस अंकों (शून्य समेत) के साथ, फिर लगभग 800 ईस्वी में फ़ारसी और अरब व्यापारियों के ज़रिए अरब दुनिया तक पहुँची। वहाँ से यह यूरोप तक फैली, जहाँ कई सदियों में उसने भद्दी रोमन अंक-व्यवस्था की जगह धीरे-धीरे ले ली। इसीलिए हम आज अपनी संख्या-व्यवस्था को "अरबी अंक" कहते हैं, जबकि असल में ये भारतीय अंक हैं जो अरब होते हुए गए। ख़ुद अरबों ने इन्हें "हिंदी अंक" कहा। वे जानते थे कि ये कहाँ से आए।

भारतीय अंकों और शून्य के विचार के बिना, आपके पास कंप्यूटर नहीं होते। राकेट नहीं होते। आपका फ़ोन नहीं होता। आधुनिक तकनीक का लगभग हर टुकड़ा ऐसे गणित पर टिका है जो शून्य पर टिका है। यह भारत ने दुनिया को दिया।

दशमलव व्यवस्था

शून्य से जुड़ी हुई है दशमलव स्थान-मान व्यवस्था। यही वह तरीक़ा है जिससे हम आज संख्याएँ लिखते हैं। किसी अंक की जगह बताती है कि उसका मान क्या है। 50 में जो 5 है, उसका मतलब पचास। 500 में जो 5 है, उसका मतलब पाँच सौ। यह आज हमें इतना स्पष्ट लगता है कि हम संख्याएँ किसी और तरीक़े से लिखने की कल्पना ही नहीं कर सकते। पर मानव-इतिहास के ज़्यादातर समय किसी ने यह व्यवस्था इस्तेमाल नहीं की।

रोमन लोग 1,847 को MDCCCXLVII लिखते थे। ज़रा MDCCCXLVII को CCXIV से दिमाग़ में गुणा करके दिखाइए। आप नहीं कर सकते। रोमन अंकों से उलझा हुआ गणित लगभग नामुमकिन हो जाता है। यही एक वजह है कि मध्ययुगीन यूरोप में ऊँचा गणित इतना मुश्किल था।

भारतीय दशमलव व्यवस्था गणित को आसान बना देती है। 1,847 गुणा 214 को काग़ज़ पर उसी तरीक़े से किया जा सकता है जो हम सब स्कूल में सीखते हैं। वह तरीक़ा ख़ुद भारत में विकसित हुआ, और फिर लगभग 825 ईस्वी में अल-ख़्वारिज़्मी नाम के एक फ़ारसी गणितज्ञ ने इसे अरबी में अनुवाद किया। उसकी किताब का बाद में लातीनी में अनुवाद हुआ, और अंग्रेज़ी शब्द "एल्गोरिदम" उसी के नाम से आता है। यानी "एल्गोरिदम" शब्द की भी जड़ें भारतीय और फ़ारसी हैं।

त्रिकोणमिति और साइन फलन

जब आपने स्कूल में गणित पढ़ा, तो शायद आपको साइन और कोसाइन से नफ़रत रही हो। पर आपको पता होना चाहिए कि ये फलन, जो वास्तुकला से लेकर जीपीएस उपग्रहों तक हर चीज़ के लिए ज़रूरी हैं, भारत में विकसित हुए।

यूनानी गणितज्ञ हिप्पार्कस ने वृत्त की जीवाओं से त्रिकोणमिति का एक बुनियादी रूप बनाया था। पर आधुनिक साइन फलन, जो कहीं ज़्यादा काम का है, आर्यभट ने लगभग 500 ईस्वी में विकसित किया। ख़ुद "साइन" शब्द दिलचस्प है। आर्यभट ने इस विचार को "ज्या" कहा, जिसका संस्कृत में मतलब है "धनुष की डोरी"। अरब गणितज्ञों ने इसे "जिबा" के रूप में अनुवादित किया, फिर इसे ग़लती से "जैब" पढ़ लिया, जिसका अरबी में मतलब है "जेब" या "खाड़ी"। जब यूरोपियों ने इसे अरबी से अनुवादित किया, तो उन्होंने "खाड़ी" को लातीनी में "साइनस" अनुवादित किया, जिसका मतलब "खाड़ी" या "मोड़" होता है। और वही अंग्रेज़ी में "साइन" बन गया। यानी "साइन" दरअसल धनुष की डोरी के लिए एक संस्कृत शब्द के, एक अरबी ग़लत-अनुवाद का, लातीनी अनुवाद है।

शल्य-चिकित्सा और औषधि

मैंने पहले सुश्रुत संहिता का ज़िक्र किया था। आइए, थोड़ा और बताऊँ। सुश्रुत को कभी-कभी "शल्य-चिकित्सा का जनक" कहा जाता है। वे भारत में कहीं 800 ई.पू. और 600 ई.पू. के बीच हुए, जो बेहद पुराना समय है। उनका चिकित्सा-ग्रंथ, सुश्रुत संहिता, लगभग 500 ईस्वी तक मोटे तौर पर अपने आज वाले रूप में आ गया।

यह किताब 121 शल्य-उपकरणों का वर्णन करती है। यह 300 से ज़्यादा ऑपरेशन करने का तरीक़ा बताती है, जो आठ श्रेणियों में बँटे हैं। इसमें प्लास्टिक सर्जरी, मोतियाबिंद निकालना, गुर्दे की पथरी निकालना,

सीज़ेरियन (पेट चीरकर बच्चा निकालना), और कई और शामिल हैं। नाक दोबारा बनाने की प्लास्टिक सर्जरी की तकनीक, जिसे "भारतीय विधि" कहते हैं, आज भी इस्तेमाल होती है और सारी आधुनिक नाक-सर्जरी की नींव है।

भारतीय डॉक्टरों ने सफ़ाई के बारे में भी उन्नत विचार यूरोपियों से बहुत पहले विकसित किए। शल्य-उपकरण इस्तेमाल से पहले उबाले जाते थे। मरीज़ों को दर्द कम करने के लिए शराब दी जाती थी। घावों को कीटाणु-नाशक जड़ी-बूटियों से साफ़ किया जाता था। ये विचार मुख्यधारा की यूरोपीय चिकित्सा तक 1800 के दशक तक नहीं पहुँचे।

योग और ध्यान

आधुनिक लोग अक्सर योग को सिर्फ़ कसरत समझते हैं। पर योग शरीर, मन और आत्मा के अभ्यास की एक बहुत पुरानी भारतीय व्यवस्था है। योग के सबसे पुराने ज़िक्र उपनिषदों में मिलते हैं। लगभग 200 ई.पू. से 400 ईस्वी के बीच, पतंजलि नाम के एक ऋषि ने *योग सूत्र* संकलित किए, जिनमें योग के आठ अंग बताए गए।

योग अब दुनिया भर में करोड़ों लोग करते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययनों ने पक्का किया है कि नियमित योग तनाव घटाता है, लचक बढ़ाता है, पुराने दर्द में मदद करता है, और मानसिक सेहत में भी मदद कर सकता है। जो 2,000 साल से ज़्यादा पहले भारत में एक आध्यात्मिक अभ्यास के तौर पर शुरू हुआ, वह अब दुनिया भर की एक सेहत-घटना है।

इसी तरह ध्यान (मेडिटेशन) अब तंत्रिका-वैज्ञानिक, चिकित्सक और करोड़ों आम लोग इस्तेमाल करते हैं। हेडस्पेस और काम जैसे ऐप ने ध्यान को आम बना दिया है। यह सब भारतीय और बौद्ध साधकों की हज़ारों साल पहले विकसित की हुई तकनीकों में जड़ें रखता है।

संस्कृत व्याकरण: दुनिया का पहला भाषा-विज्ञान

लगभग 500 ई.पू. में, पाणिनि नाम के एक भारतीय वैयाकरण ने *अष्टाध्यायी* नाम की किताब लिखी। यह संस्कृत के व्याकरण की किताब है, और मानव-सोच के इतिहास की सबसे अद्भुत रचनाओं में से एक है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में 3,959 नियम हैं जो संस्कृत का व्याकरण बताते हैं। ये नियम बहुत संक्षिप्त, तकनीकी शैली में लिखे हैं, लगभग किसी कंप्यूटर प्रोग्राम जैसे। 1900 के दशक के आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक यह समझकर दंग रह गए कि पाणिनि ने औपचारिक भाषा-विज्ञान दरअसल उनसे 2,500 साल पहले ही ईजाद कर दिया था। उसकी नियम-व्यवस्था की तुलना "जनरेटिव ग्रामर" से की गई है, जो 20वीं सदी का एक विचार है।

जब अमेरिकी भाषा-वैज्ञानिक लियोनार्ड ब्लूमफ़ील्ड 1930 के दशक में आधुनिक भाषा-सिद्धांत विकसित कर रहा था, तो उसने खुलकर माना कि पाणिनि का काम यूरोपीय भाषा-सोच से हज़ारों साल आगे था। कुछ कंप्यूटर-वैज्ञानिकों ने तर्क दिया है कि पाणिनि के नियमों ने कंप्यूटर प्रोग्रामिंग भाषाओं के विकास को प्रभावित किया, क्योंकि उन्होंने दिखाया कि कैसे कुछ बुनियादी नियमों को जोड़कर किसी भी वाक्य का वर्णन किया जा सकता है।

शतरंज

शतरंज का खेल भारत में लगभग 500 के दशक (ईस्वी) में ईजाद हुआ। शुरू में इसे "चतुरंग" कहते थे, जिसका संस्कृत में मतलब है "चार अंग" या "सेना के चार हिस्से"। ये चार हिस्से — पैदल सेना, घुड़सवार, हाथी और रथ — आधुनिक प्यादे, घोड़े, ऊँट और हाथी (रुख़) बने। यह खेल भारत से फ़ारस गया, जहाँ इसे "शतरंज" कहा गया। फ़ारस से यह अरब दुनिया में फैला, और वहाँ से लगभग 1000 ईस्वी तक यूरोप पहुँचा।

अगर आपने कभी शतरंज खेली है, तो आपने भारत में ईजाद हुआ एक खेल खेला है।

मसाले और कपास

व्यावहारिक तरफ़, भारत हज़ारों साल तक दुनिया का मसालों का मुख्य स्रोत रहा। काली मिर्च, इलायची, दालचीनी, लौंग, अदरक, हल्दी — ये सब बड़े भारतीय निर्यात थे। वास्को द गामा जैसे यूरोपीय खोजी मूल रूप से भारत के लिए ही जहाज़ लेकर निकले थे, ख़ास तौर पर इन मसालों तक एक समुद्री रास्ता ढूँढने के लिए, ताकि उन अरब व्यापारियों को बीच से हटाया जा सके जो ज़मीनी रास्तों पर क़ब्ज़ा रखते थे। क्रिस्टोफ़र कोलंबस भारत पहुँचने की कोशिश में था, जब उसने ग़लती से अमेरिका खोज लिया। उसने वहाँ मिले मूल निवासियों को "इंडियन" कहा, क्योंकि वह समझा कि वह भारत पहुँच गया है।

भारत बढ़िया सूती कपड़े का भी स्रोत था। बंगाल में बना भारतीय "मलमल" इतना महीन होने के लिए मशहूर था कि एक पूरी पोशाक एक अँगूठी में से निकल सकती थी। 1600 और 1700 के दशकों में यूरोपीय व्यापारियों ने भारी मात्रा में भारतीय कपास का आयात किया, जो यूरोपीय बुनकरों के बनाए किसी भी कपड़े से बेहतर गुणवत्ता का था। ब्रिटिश औद्योगिक क्रांति को कुछ हद तक इसी ने आगे बढ़ाया, क्योंकि अंग्रेज़ कपड़ा-उत्पादन को मशीनों से करना चाहते थे ताकि वे भारतीय कपास से मुक़ाबला कर सकें। आख़िरकार वे कामयाब हुए, पर सिर्फ़ जान-बूझकर भारतीय कपड़ा-उद्योग को ऊँचे कर और टूटी हुई आपूर्ति-कड़ियों से तबाह करके। इस पर हम भाग तीन में आएँगे।

धार्मिक बहुलवाद का विचार

आख़िर में, भारत ने दुनिया को कुछ ऐसा दिया जिस पर उँगली रखना मुश्किल है, पर जो शायद किसी भी ख़ास आविष्कार से ज़्यादा अहम है। उसने दुनिया को यह विचार दिया कि कई धर्म एक ही समय सच्चे हो सकते हैं।

प्राचीन और मध्ययुगीन दुनिया के ज़्यादातर हिस्सों में, धर्म आम तौर पर अनन्य (सिर्फ़-अपने-को-सही मानने वाले) होते थे। ईसाई मानता था कि सिर्फ़ ईसाई धर्म ही सच्चा है। मुसलमान मानता था कि सिर्फ़ इस्लाम ही सच्चा है। यहूदी मानता था कि यहूदी धर्म ही चुना हुआ है। असहमत होना ग़लत होना था, और धर्म के मामले में ग़लत होना आपकी जान ले सकता था।

भारतीय धार्मिक सोच, ख़ास तौर पर हिंदू सोच, ने एक अलग नज़रिया अपनाया। ख़ुद ऋग्वेद में मिलने वाली बुनियादी हिंदू शिक्षा है "एकम् सत् विप्रा बहुधा वदन्ति", जिसका मतलब है "सत्य एक है, ज्ञानी उसे कई तरीक़ों से कहते हैं।" उसी दिव्य सच्चाई तक कई रास्तों से पहुँचा जा सकता है। अलग-अलग धर्म, एक ही पहाड़ पर चढ़ने के अलग-अलग रास्ते हैं।

इस विचार ने हिंदू धर्म को भारत के अंदर बौद्ध, जैन और बाद में सिख धर्म के साथ हज़ारों साल तक, आपस में धार्मिक युद्धों के बिना, साथ रहने दिया। इसी ने छोटे यहूदी, ईसाई और ज़रथुस्त्री समुदायों को भी भारत में बसने और सदियों तक शांति से रहने दिया, जबकि बाक़ी हर जगह उन्हें सताया जा रहा था। केरल के यहूदी शायद राजा सोलोमन के समय से, यानी लगभग 1000 ई.पू. से वहाँ हैं। उन्हें भारत में कभी नहीं सताया गया। केरल के ईसाई — संत थॉमस ईसाई — अपनी जड़ें ख़ुद ईसा के शिष्य थॉमस से जोड़ते हैं, जो उनके मुताबिक़ 52 ईस्वी में भारत आया था। पारसी, जो फ़ारस के ज़रथुस्त्री हैं, अपनी मातृभूमि में मुस्लिम उत्पीड़न से बचने के लिए 700 के दशक में भारत भागे। भारत ने उन्हें अपना लिया।

> *"धार्मिक अल्पसंख्यकों को, जो कहीं और सताए जा रहे थे, एक स्थिर घर देने में भारत प्राचीन दुनिया में अनोखा था। यह सहिष्णुता का ऐसा रिकॉर्ड है जिसकी बराबरी कम ही सभ्यताएँ कर सकती हैं।"*
>
> *— रोमिला थापर, द पेंगुइन हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली इंडिया, 2002*

यह याद रखना ज़रूरी है। जब आगे चलकर इस्लाम और ईसाई धर्म इस यक़ीन के साथ भारत आए कि सिर्फ़ वही सच्चा धर्म हैं, तो वे ऐसी जगह आ रहे थे जिसने धर्म के बारे में सोचने का बिल्कुल अलग तरीक़ा विकसित कर लिया था। भारत धर्मों को एक ही सच्चाई के लिए लड़ते प्रतिद्वंद्वी नहीं मानता था। वह उन्हें एक ही गहरी सच्चाई के अलग-अलग रूप मानता था।

यह ताक़त भी थी और कमज़ोरी भी, इस पर निर्भर करता है कि आप कैसे देखते हैं। इसने हिंदू धर्म को लचीला और टिकाऊ बनाया। पर इसने उसे ख़तरों को पहचानने में सुस्त भी बना दिया। जब ऐसे हमलावर आए जो इस बहुलवादी नज़रिए को नहीं मानते थे, जो यह मानते थे कि उनका धर्म ही एकमात्र है और बाक़ी को मिटा देना चाहिए — तब भारत को कभी-कभी समझ ही नहीं आता था कि जवाब क्या दे। यह खेल हम अगले अध्याय में होते देखेंगे।

XIV.

पहली लहर: इस्लाम का भारत आना

अब हम भारतीय इतिहास के सबसे मुश्किल अध्यायों में से एक पर आते हैं — इस्लाम का आना। मैं यह कहानी ईमानदारी से कहने की कोशिश करूँगा। इसका कुछ हिस्सा निर्मम और दर्दनाक है। कुछ हिस्सा आम तौर पर बताई जाने वाली सीधी कहानी से ज़्यादा उलझा हुआ है। मैं हिंसा को नरम नहीं करूँगा, पर मैं यह भी नहीं दिखाऊँगा कि भारत आया हर मुसलमान हाथ में तलवार लेकर आया था। असली इतिहास इससे ज़्यादा गड्डमड्ड है।

दो अलग-अलग लहरें

आगे बढ़ने से पहले, मुझे एक अहम फ़र्क़ बताना है। इस्लाम भारत में दो बहुत अलग तरीक़ों से आया, बहुत अलग समयों पर, बहुत अलग नतीजों के साथ।

पहला तरीक़ा शांतिपूर्ण था। अरब व्यापारी सदियों से दक्षिण भारत के मालाबार तट से कारोबार करते आ रहे थे, इस्लाम के बनने से भी पहले से। जब ये व्यापारी 600 और 700 के दशकों में इस्लाम में आए, तो वे अपना नया धर्म भारत ले आए। वे कालीकट, कोचीन और क्विलोन जैसे बंदरगाह शहरों में बसे। उन्होंने स्थानीय औरतों से शादियाँ कीं। उन्होंने मस्जिदें बनाईं। वे हिंदू और ईसाई पड़ोसियों के साथ शांति से रहे। केरल का मुस्लिम समुदाय, जिसे "मापिला मुसलमान" कहते हैं, वहाँ 1,300 साल से ज़्यादा से है। वे गहराई से भारतीय हैं। वे मलयालम बोलते हैं। वे भारतीय खाना खाते हैं। वे भारतीय शैली के घरों में रहते हैं। कोई विजय नहीं हुई। कोई ज़बरदस्ती धर्म-परिवर्तन नहीं हुआ। बस सदियों का व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान।

दूसरा तरीक़ा हिंसक था। 700 के दशक से शुरू होकर, और ख़ास तौर पर 1000 के दशक से आगे, मुस्लिम फ़ौजें उत्तर-पश्चिम से भारत पर हमला करने लगीं। ये व्यापारी नहीं थे। ये सिपाही थे, अक्सर तुर्क, फ़ारसी या अफ़ग़ान सेनापतियों की अगुवाई में। वे विजय के लिए आए थे। और भारत के लिए इसके नतीजे बहुत बड़े थे।

दोनों कहानियाँ सच हैं। दोनों हुईं। हमें दोनों पर ईमानदारी से बात करनी होगी।

> **"जज़िया" क्या है?** जज़िया वह कर (टैक्स) था जो कुछ मुस्लिम शासकों के राज में ग़ैर-मुसलमानों को अलग से देना पड़ता था। इसे चुकाने पर उन्हें अपना धर्म मानने की छूट मिलती थी।

पहला आक्रमण: मुहम्मद बिन क़ासिम, 712 ईस्वी

भारत पर पहला बड़ा मुस्लिम सैन्य अभियान 712 ईस्वी में मुहम्मद बिन क़ासिम नाम के एक 17 साल के अरब सेनापति ने किया। उसे उमय्यद ख़िलाफ़त ने भेजा, जो उस समय की प्रमुख मुस्लिम ताक़त थी, दमिश्क

से चलने वाली। हमले की उसकी आधिकारिक वजह यह थी कि सिंधी राजा दाहिर को तट के पास अरब जहाज़ों पर हमलों की सज़ा दी जाए।

मुहम्मद बिन क़ासिम की फ़ौज ने अरोड़ की लड़ाई में राजा दाहिर को हराया। दाहिर मारा गया। जीता गया इलाक़ा सिंध था, जो अब दक्षिणी पाकिस्तान में है। आगे क्या हुआ, इस पर बहस होती है। कुछ स्रोत कहते हैं कि मुहम्मद बिन क़ासिम ने बड़ी संख्या में ग़ैर-मुसलमानों का क़त्ल किया। दूसरे स्रोत कहते हैं कि वह तुलना में सहिष्णु था, और हिंदुओं तथा बौद्धों को जज़िया नाम का कर देने के बदले अपने धर्म मानने की छूट देता था। सच शायद बीच में कहीं है। विजय के दौरान हिंसा हुई, पर उसके बाद नए शासकों ने ज़्यादातर लोगों को अपनी ज़िंदगी जीने दिया, क्योंकि अपनी ही प्रजा को मारना कर-वसूली के लिए बुरा है।

ख़ास बात, 712 ईस्वी का अरब आक्रमण सिर्फ़ सिंध तक ही पहुँचा। वे बाक़ी भारत में नहीं घुस पाए। प्रतिहार, पाल और राष्ट्रकूट, जो उस समय के मुख्य भारतीय राजवंश थे, ने आगे किसी भी अरब विस्तार को कामयाबी से रोक दिया। अगले 300 साल तक, भारत में अरब मुस्लिम मौजूदगी सिंध और तटीय व्यापारी समुदायों तक सीमित रही। भारत कुल मिलाकर हिंदू और बौद्ध बना रहा।

ग़ज़नी का महमूद: लुटेरा, 1000 से 1027 ईस्वी

असली बदलाव एक आदमी से शुरू हुआ — ग़ज़नी का महमूद। वह आज के अफ़ग़ानिस्तान में केंद्रित एक साम्राज्य का तुर्क शासक था। 1000 और 1027 ईस्वी के बीच, महमूद ने उत्तर भारत में सत्रह अलग-अलग धावे बोले।

महमूद भारत को किसी पक्के तरीक़े से जीतने की कोशिश नहीं कर रहा था। वह एक लुटेरा था। वह अपनी फ़ौज इकट्ठा करता, भारत में घुसता, किसी अमीर शहर या मंदिर पर हमला करता, जो भी ले जा सकता वह सब लूटता, मुक़ाबला करने वालों को मारता, और फिर लौट जाता। उसके धावे इसलिए चल पाए क्योंकि भारत राजनीतिक रूप से बँटा हुआ था। बचाव को संगठित करने वाली कोई केंद्रीय भारतीय सत्ता नहीं थी। हर हिंदू राजा सिर्फ़ अपना इलाक़ा बचाता था, और महमूद उन्हें एक-एक करके निपटा सकता था।

उसके धावों में सबसे मशहूर और सबसे विनाशकारी था 1025 ईस्वी में गुजरात के सोमनाथ मंदिर की लूट। सोमनाथ सबसे पवित्र हिंदू मंदिरों में से एक था, शिव को समर्पित। इसे एक हज़ार साल से ज़्यादा समय तक बनाया और दोबारा बनाया जाता रहा था। महमूद के धावों पर लिखने वाले फ़ारसी इतिहासकारों के मुताबिक़, मंदिर बेहद अमीर था, सोने और जवाहरात से सजा, और हज़ारों तीर्थयात्रियों का आना-जाना लगा रहता था।

महमूद की फ़ौज मंदिर में घुस गई। बचाव करने वाले मारे गए। फ़ारसी स्रोत 50,000 लोगों के मारे जाने की संख्या देते हैं, हालाँकि यह बढ़ा-चढ़ाकर हो सकती है। महमूद ने ख़ुद गदा से मुख्य शिवलिंग को तोड़ा। उसने मंदिर का ख़ज़ाना ऊँटों पर लादकर ग़ज़नी ले गया। फ़ारसी इतिहासकार अल-उत्बी के मुताबिक़, अकेले सोमनाथ की लूट 2 करोड़ चाँदी के दिरहम की थी। मंदिर तबाह कर दिया गया।

सोमनाथ का धावा हिंदू स्मृति में एक ऐसा घाव बन गया जो कभी पूरी तरह नहीं भरा। लगभग 1,000 साल बाद भी आज इसकी बात होती है। मंदिर कई बार दोबारा बनाया गया, सबसे हाल में 1951 में भारत की आज़ादी के बाद। हर बार, इसे इस बात के बयान के तौर पर दोबारा बनाया गया कि जो तबाह हुआ, वह दोबारा बन सकता है।

यह नोट करना ज़रूरी है कि महमूद के धावों के पीछे धार्मिक जुनून और शुद्ध लालच — दोनों थे। वह एक मुसलमान था और मानता था कि हिंदू बुतों को तोड़ना एक धार्मिक कर्तव्य है। पर वह एक राजा भी था जिसे अपने सिपाहियों को तनख़्वाह देनी थी और फ़ारस तथा मध्य एशिया में अपने दूसरे युद्धों के लिए पैसा चाहिए था। भारत से लूटी दौलत ने उसका पूरा साम्राज्य चलाया। दोनों वजहें असली थीं। हमें यह नहीं दिखाना चाहिए कि यह सिर्फ़ धार्मिक था। पर यह भी नहीं दिखाना चाहिए कि इसमें धर्म की कोई भूमिका ही नहीं थी।

यह क्यों हो सका? राजनीतिक समस्या

एक अहम बात सुनिए। 1000 ईस्वी तक, भारत दुनिया की सबसे बड़ी और सबसे अमीर सभ्यता था। उसके पास शानदार गणितज्ञ थे, सुंदर कला थी, हज़ारों मंदिर थे, गहरा दर्शन था। फिर भी ग़रीब, पहाड़ी अफ़ग़ानिस्तान में बैठा एक तुर्क सरदार उसे लगभग जब चाहे लूट सकता था। कैसे?

जवाब है — राजनीतिक बिखराव। 1000 ईस्वी में भारत एक देश नहीं था। यह आपस में होड़ करते दर्जनों हिंदू राज्य थे। पूरब में पाल साम्राज्य। बीच में प्रतिहार। दक्षिण में चोल साम्राज्य। राष्ट्रकूट। चालुक्य। अलग-अलग इलाक़ों में राजपूत। ये राज्य अपना ज़्यादातर समय आपस में लड़ने में लगाते थे। जब महमूद ने हमला किया, हर राज्य ने सिर्फ़ ख़ुद को बचाया। कोई पूरे भारत की मिली-जुली प्रतिक्रिया नहीं थी। कोई साझी पहचान नहीं थी जिसकी वजह से दक्षिण के तमिल चोल, उत्तर के राजपूतों को बचाने दौड़ पड़ते।

इसमें जाति-व्यवस्था और जोड़ दीजिए।

> **"जाति-व्यवस्था" क्या है?** प्राचीन भारत में समाज जन्म के आधार पर कई तय वर्गों (जातियों) में बँटा था, और हर वर्ग का काम लगभग तय था। जैसे — लड़ाई का काम सिर्फ़ क्षत्रिय (योद्धा) वर्ग का माना जाता था, जो आबादी का छोटा हिस्सा था।

असल लड़ाई सिर्फ़ क्षत्रिय योद्धा-वर्ग को करनी होती थी, जो आबादी का छोटा-सा प्रतिशत था। किसी भी हमला हुए राज्य में लाखों किसान, व्यापारी और कारीगर रहते थे, पर वे लड़ने के लिए प्रशिक्षित नहीं थे। वे तलवार उठाकर अपने घर नहीं बचा सकते थे। यह एक ढाँचागत कमज़ोरी थी, जिसे भारत बहुत बाद तक ठीक से हल नहीं कर पाया।

इतिहासकार अल-बिरूनी, एक फ़ारसी मुस्लिम विद्वान जो ग़ज़नी के महमूद के साथ आया और जिसने भारतीय संस्कृति का सावधान अध्ययन *किताब अल-हिंद* लिखा, ने ख़ुद यह कमज़ोरी देखी। उसने लिखा कि हिंदू विज्ञान और गणित में शानदार थे, पर राजनीतिक और सैन्य रूप से बेतरतीब थे। अल-बिरूनी की किताब 1000 ईस्वी के भारत पर हमारे सबसे अच्छे स्रोतों में से एक है, और यह बेहद निष्पक्ष है। उसने भारतीय उपलब्धियों की तारीफ़ की, भले ही वह उसी आदमी की सेवा कर रहा था जो इन्हें लूट रहा था।

> *"हिंदू मानते हैं कि उनके जैसा कोई देश नहीं, उनके जैसी कोई जाति नहीं, उनके जैसे कोई राजा नहीं, उनके जैसा कोई विज्ञान नहीं। वे घमंडी, मूर्खतापूर्ण रूप से अभिमानी, और जड़ हैं। फिर भी मैं मानता हूँ कि उनका विज्ञान कई क्षेत्रों में हमारे विज्ञान से आगे है।"*
>
> *— अल-बिरूनी, किताब अल-हिंद, लगभग 1030 ईस्वी*

अल-बिरूनी आलोचना कर रहा था, पर उस आलोचना में एक सच्ची समझ है। भारत का अपनी श्रेष्ठता पर भरोसा, जो काफ़ी हद तक कमाया हुआ था, ने उसे अफ़ग़ानिस्तान जैसे ग़रीब, कम विकसित इलाक़ों के ख़तरे को गंभीरता से लेने में सुस्त भी बना दिया। भला महान भारतीय सभ्यता पहाड़ों के किसी सरदार की चिंता क्यों करे? यह एक महँगी ग़लती साबित हुई।

बड़ा वाला: ग़ोर का मुहम्मद और तराइन की लड़ाई, 1192 ईस्वी

ग़ज़नी के महमूद के धावे बस एक झलक थे। असली विजय लगभग 200 साल बाद आई, एक आदमी के साथ — ग़ोर का मुहम्मद। वह आज के अफ़ग़ानिस्तान का एक तुर्क-फ़ारसी शासक था।

ग़ोर के मुहम्मद ने 1170 के दशक में उत्तर भारत पर हमले शुरू किए। उसे रोकने वाली मुख्य हिंदू ताक़त राजपूत राज्यों का एक संघ था, जिसकी अगुवाई पृथ्वीराज चौहान नाम का एक नौजवान राजा कर रहा था, जो दिल्ली और अजमेर से राज करता था।

1191 ईस्वी में, दोनों फ़ौजें हरियाणा में आज के करनाल के पास तराइन में भिड़ीं। पृथ्वीराज चौहान जीता। राजपूत घुड़सवारों ने ग़ोरी क़तारें तोड़ दीं, और ख़ुद ग़ोर का मुहम्मद लगभग पकड़ा ही गया था। वह दोबारा संगठित होने के लिए अफ़ग़ानिस्तान भाग गया। अगर पृथ्वीराज ने उसका पीछा करके उसका काम तमाम कर दिया होता, तो शायद भारतीय इतिहास का बड़ा हिस्सा अलग होता।

पर पृथ्वीराज ने ग़ोर के मुहम्मद को जाने दिया। क्यों? क्योंकि राजपूत परंपरा में, हारे हुए दुश्मन का पीछा नहीं किया जाता था। आप उसे इज़्ज़त के साथ लौटने देते थे। इसे सम्मानजनक माना जाता था। ग़ोर का मुहम्मद इस संहिता को नहीं मानता था। वह घर गया, एक बड़ी फ़ौज खड़ी की, और अगले ही साल लौट आया।

1192 ईस्वी में, तराइन की दूसरी लड़ाई में, दोनों फ़ौजें फिर भिड़ीं। इस बार ग़ोर के मुहम्मद ने अलग रणनीति इस्तेमाल की। उसने अपने हल्के घुड़सवार धीमी, भारी कवच वाली राजपूत फ़ौज को परेशान करने भेजे। उसने भोर में हमला किया, जब राजपूत अभी तैयारी ही कर रहे थे। उसने नक़ली पीछे हटने की चाल से राजपूत घुड़सवारों को जाल में फँसाया। पृथ्वीराज चौहान हारा और पकड़ा गया। फ़ारसी स्रोतों के मुताबिक़, आख़िरकार उसे मार दिया गया।

1192 ईस्वी की तराइन की दूसरी लड़ाई भारतीय इतिहास की सबसे अहम तारीख़ों में से एक है। इसने उत्तर भारत के दरवाज़े उस मुस्लिम राजनीतिक शासन के लिए खोल दिए, जो अलग-अलग रूपों में 600 साल से ज़्यादा चलने वाला था। इस बिंदु से 1857 तक, जब अंग्रेज़ों ने आख़िरी मुग़ल बादशाह का राज औपचारिक रूप से ख़त्म किया, भारत के बड़े हिस्सों पर मुस्लिम राजवंशों का राज रहा।

नालंदा का विनाश, 1193 ईस्वी

तराइन के एक साल बाद, ग़ोर के मुहम्मद का सेनापति बख़्तियार ख़िलजी पूरब की ओर बिहार और बंगाल में बढ़ा। 1193 ईस्वी में, वह नालंदा पहुँचा — वही महान विश्वविद्यालय जिसकी बात हमने बारहवें अध्याय में की थी।

आगे जो हुआ वह मानव-इतिहास की सबसे बड़ी त्रासदियों में से एक है। बख़्तियार ख़िलजी की फ़ौज ने नालंदा पर हमला किया। भिक्षु मारे गए या भाग गए। इमारतें जला दी गईं। पुस्तकालय, अपने लाखों हस्तलिखित ग्रंथों के साथ — जो 800 साल के जमा किए ज्ञान का प्रतीक थे — आग के हवाले कर दिया गया। फ़ारसी इतिहासकार मिन्हाज-ए-सिराज, जिसने इस घटना के लगभग 70 साल बाद अपनी किताब *तबक़ात-ए-नासिरी* में लिखा, कहता है कि पुस्तकालय कई महीने तक जलता रहा। धुआँ मीलों दूर से दिखता था। मानव-ज्ञान की पूरी-पूरी श्रेणियाँ उन लपटों में हमेशा के लिए खो गईं।

नालंदा अकेला शिकार नहीं था। उसी इलाक़े के दूसरे महान भारतीय विश्वविद्यालय, जिनमें विक्रमशिला और ओदंतपुरी शामिल हैं, भी इसी समय के आस-पास तबाह कर दिए गए। उत्तर भारत में बौद्ध शिक्षा का पूरा केंद्र मिटा दिया गया। बौद्ध धर्म, जो 1,500 साल से ज़्यादा भारत में एक बड़ा धर्म रहा था, अगली सदी में अपनी ही मातृभूमि से लगभग ग़ायब हो गया। बचे हुए बौद्धों ने या तो हिंदू धर्म अपना लिया, या तिब्बत और दक्षिण-पूर्व एशिया भाग गए, या मार दिए गए। यही वजह है कि बौद्ध धर्म — भारत का बनाया सबसे शांतिपूर्ण और दार्शनिक धर्म — आज ख़ुद भारत में मुश्किल से मौजूद है, जबकि जिन देशों में यह फैला वहाँ फल-फूल रहा है।

मैं एक बात साफ़ कहना चाहता हूँ। नालंदा का विनाश कोई ग़लतफ़हमी या युद्ध का हादसा नहीं था। यह जान-बूझकर की गई सांस्कृतिक तबाही थी। फ़ारसी स्रोत ख़ुद इसे "काफ़िरों पर एक धार्मिक जीत" बताते हैं। पुस्तकालय जलाने की कोई सैन्य ज़रूरत नहीं थी। पुस्तकालय से कोई ख़तरा नहीं था। इसे इसलिए जलाया गया क्योंकि उसकी किताबें एक प्रतिद्वंद्वी विश्व-दृष्टि का प्रतीक थीं, और विजेता उस दृष्टि को मिटा देना चाहते थे।

यह वैसी घटना है जो कई देशों के इतिहास में होती है, पर इसे याद रखा जाना चाहिए, भुलाया या हल्का नहीं किया जाना चाहिए। जब आप कोई पुस्तकालय जलाते हैं, तो आप सिर्फ़ वर्तमान को नहीं मारते। आप भविष्य को मारते हैं। वह सब कुछ जो वे किताबें प्रेरित कर सकती थीं, जो वे सिखा सकती थीं — सब ख़त्म।

कुछ ज़रूरी ईमानदार बातें

आगे बढ़ने से पहले, मैं कुछ बातें ठीक से सही जगह पर रखना चाहता हूँ, क्योंकि मध्ययुगीन इस्लामी विजयों के इतिहास को अक्सर आधुनिक भारत में राजनीतिक मक़सद वाले लोग हथियार की तरह इस्तेमाल करते हैं। मैं उन लोगों में से एक नहीं बनना चाहता।

पहली बात। मुस्लिम हमलावरों और शासकों ने सचमुच कई हिंदू मंदिर तबाह किए। यह दर्ज तथ्य है। इतिहासकार रिचर्ड ईटन ने अपनी किताब *टेम्पल डेसिक्रेशन एंड मुस्लिम स्टेट्स इन मेडीवल इंडिया* (2000) में इस पर सावधानी से शोध किया और लगभग 80 मंदिर पहचाने जो 1192 और 1729 ईस्वी के बीच निश्चित रूप से मुस्लिम शासकों ने तबाह किए। पुराने हिंदू राष्ट्रवादी स्रोत कभी-कभी 60,000 तबाह मंदिरों जैसे आँकड़े बताते हैं, जिन्हें ईटन का शोध सबूतों से असमर्थित दिखाता है। असली संख्या इन बढ़े-चढ़े दावों से कहीं कम है, पर फिर भी काफ़ी बड़ी और अहम है।

दूसरी बात। ज़्यादातर मंदिर-विनाश विजय के संदर्भ में हुआ। किसी इलाक़े को जीतकर उसके मुख्य धार्मिक प्रतीक तोड़ देना यह कहने का तरीक़ा था कि "अब हमारा राज है।" यह निर्मम है, पर यह सब धर्मों के

मध्ययुगीन विजेताओं की एक आम रीति भी थी। ईसाइयों ने यूरोप में पेगन मंदिरों के साथ यही किया। कुछ बौद्ध विजयों में बौद्धों ने दूसरे धर्मों के साथ यही किया। कुछ हिंदू पुनर्विजयों में हिंदुओं ने बौद्ध स्थलों के साथ यही किया। यह ढर्रा राजनीतिक दबदबा क़ायम करने का था, सिर्फ़ धर्म का नहीं। धर्म वह भाषा थी जिसमें वह दबदबा बोला जाता था।

तीसरी बात। भारत के सारे मुस्लिम शासक तबाही करने वाले नहीं थे। कई महान निर्माता थे। मुग़लों ने ताजमहल, लाल क़िला, और सैकड़ों दूसरे ख़ूबसूरत स्मारक बनाए, जो अब भारत की धरोहर के क़ीमती हिस्से हैं। अकबर, तीसरा मुग़ल बादशाह, ने हिंदू, ईसाई, ज़रथुस्त्री और जैन विद्वानों से सीखने की गंभीर कोशिश की और धार्मिक सहिष्णुता को बढ़ावा दिया। उस पर हम अगले अध्याय में बात करेंगे। पीढ़ियों से भारत में रहते कई आम मुसलमान किसी और जितने ही भारतीय हो गए, और उन्होंने अनगिनत तरीक़ों से भारतीय संस्कृति में योगदान दिया। भारतीय संगीत, भारतीय खाना, भारतीय वास्तुकला, भारतीय पहनावा — सब पर इस्लामी असर का बड़ा क़र्ज़ है।

चौथी बात। आज के ज़्यादातर आम भारतीय मुसलमान हमलावरों के वंशज नहीं हैं। वे उन भारतीय हिंदुओं और बौद्धों के वंशज हैं जिन्होंने सदियों में धर्म बदला — अक्सर शांति से, कभी दबाव में, पर शायद ही कभी तलवार की नोक पर। कई ने जाति-व्यवस्था के सबसे बुरे हिस्सों से बचने के लिए धर्म बदला, क्योंकि इस्लाम आधिकारिक रूप से सबको बराबर मानता था, भले ही अमल में हमेशा ऐसा न हो। भारतीय मुसलमान भारतीय हिंदुओं जितने ही भारतीय हैं। उनका ख़ून एक है, धरती एक है, और ज़्यादातर संस्कृति एक है। जो कोई आपसे कहे कि भारतीय मुसलमान विदेशी हैं, वह झूठ बोल रहा है।

इन चारों बातों को एक साथ ईमानदारी से थामे रखना मुश्किल है। इसके लिए यह मानना पड़ता है कि अतीत में सचमुच नुक़सान हुए, और साथ ही यह भी मानना पड़ता है कि उन नुक़सानों का बदला आज जीते लोगों पर नहीं निकाला जा सकता। इसके लिए राजाओं-फ़ौजों के किए और आम लोगों के किए में फ़र्क़ करना पड़ता है। इसके लिए न यह दिखाना है कि तबाही हुई ही नहीं, न इसे आधुनिक राजनीतिक मक़सद के लिए बढ़ा-चढ़ाकर बताना है। यही वह ईमानदार इतिहास है जो मैं करने की कोशिश कर रहा हूँ। उम्मीद है आप मुझे इस पर कसते रहेंगे।

XV.

सल्तनत, मुग़ल, और वह लंबी विजय

1192 ईस्वी में तराइन में ग़ोर के मुहम्मद की जीत के बाद, उत्तर भारत एक नए दौर में आ गया। अगले 320 साल तक, उत्तर भारत पर मुस्लिम राजवंशों की एक कतार ने राज किया, जिन्हें मिलाकर "दिल्ली सल्तनत" कहते हैं। फिर 1526 ईस्वी में, एक नया राजवंश आया — मुग़ल। वे, असल में, 1857 ईस्वी तक राज करते रहे। यानी उत्तर भारत में 660 साल से ज़्यादा का मुस्लिम राजनीतिक शासन। यह मोटे तौर पर उतना ही समय है जितना कोलंबस के अमेरिका पहुँचने से अब तक बीता है। यह इतिहास का एक बहुत बड़ा खंड है, जिसकी कई परतें हैं।

> **"सल्तनत" और "मुग़ल" क्या हैं?** "सल्तनत" यानी सुल्तान (मुस्लिम राजा) का राज — यहाँ 1206 से 1526 तक दिल्ली से चलने वाले मुस्लिम राजवंशों की कतार। "मुग़ल" 1526 के बाद आया एक ताक़तवर मुस्लिम राजवंश था, जिसका भारत के बड़े हिस्से पर सैकड़ों साल राज रहा।

दिल्ली सल्तनत के पाँच राजवंश

दिल्ली सल्तनत एक लगातार चलने वाली सरकार नहीं थी। यह असल में पाँच अलग-अलग राजवंश थे, जो 1206 और 1526 ईस्वी के बीच दिल्ली में एक के बाद एक आए। हर एक का अपना मिज़ाज था। आइए, इन्हें जल्दी से देखें।

ग़ुलाम वंश (1206 से 1290 ईस्वी)। इसे "मामलूक वंश" भी कहते हैं। पहला शासक क़ुतुब-उद-दीन ऐबक था, एक पूर्व ग़ुलाम जो ग़ोर के मुहम्मद का सेनापति रहा था। 1206 में ग़ोर के मुहम्मद की मौत पर, ऐबक ने ख़ुद को दिल्ली का सुल्तान बना लिया। उसके कई उत्तराधिकारी भी पूर्व ग़ुलाम थे, जो फ़ौज के ज़रिए ऊपर उठे। ग़ुलाम वंश ने दिल्ली में मशहूर क़ुतुब मीनार बनवाई, 73 मीटर ऊँची एक मीनार, जिसे आप आज भी देख सकते हैं।

ख़िलजी वंश (1290 से 1320 ईस्वी)। सबसे मशहूर ख़िलजी शासक अलाउद्दीन ख़िलजी था। वह एक शानदार सेनापति था, पर भारतीय इतिहास के सबसे निर्मम शासकों में से एक भी। उसने सैन्य अभियानों की एक कतार चलाई जिसने पहली बार सल्तनत का इलाक़ा गहरे दक्षिण भारत तक पहुँचा दिया। उसने सख़्त आर्थिक नियंत्रण भी लगाए — दाम तय किए और प्रजा से दौलत ज़ब्त की। 2018 की फ़िल्म *पद्मावत* में रणवीर सिंह ने जो राजा निभाया, वह यही है, हालाँकि उस फ़िल्म की ऐतिहासिक सच्चाई बहुत संदिग्ध है।

तुग़लक़ वंश (1320 से 1414 ईस्वी)। तुग़लक़ तुर्क-भारतीय शासक थे। सबसे मशहूर मुहम्मद बिन तुग़लक़ था, जिसने कुछ बेहद महत्वाकांक्षी योजनाएँ आज़माईं। उसने अपनी राजधानी दिल्ली से मध्य भारत के दौलताबाद ले जाई, और दिल्ली की पूरी आबादी को सैकड़ों किलोमीटर पैदल चलने पर मजबूर किया। जब

वह काम नहीं आया, उसने उन्हें वापस चलने पर मजबूर किया। उसने ताँबे का एक प्रतीकात्मक सिक्का चलाने की भी कोशिश की, जो तब ढह गया जब लोग उसे जाली बनाना सीख गए। उसे कभी-कभी "भारतीय इतिहास का सबसे बुद्धिमान मूर्ख" कहा जाता है।

सय्यद वंश (1414 से 1451 ईस्वी)। यह एक छोटा और कमज़ोर वंश था, जो सिर्फ़ दिल्ली के आस-पास के एक छोटे इलाक़े पर राज करता था।

लोदी वंश (1451 से 1526 ईस्वी)। लोदी अफ़ग़ान शासक थे, जिन्होंने थोड़े समय के लिए सल्तनत की ताक़त लौटाई। आख़िरी लोदी शासक, इब्राहिम लोदी, 1526 ईस्वी में पानीपत की पहली लड़ाई में मारा गया, जिस पर हम एक पल में आएँगे।

तैमूर का आक्रमण, 1398 ईस्वी

मैं सल्तनत काल की एक घटना अलग से बताना चाहता हूँ, क्योंकि वह विनाशकारी थी। 1398 ईस्वी में, मध्य एशिया का विजेता तैमूर, जिसे तैमूरलंग भी कहते हैं, ने भारत पर हमला किया।

तैमूर चंगेज़ ख़ान का एक तुर्क-मंगोल वंशज था, और फ़ारस, इराक़, सीरिया और मध्य एशिया में अपनी विजयों के लिए पहले से मशहूर था। उसका भारत पर हमला छोटा पर तबाह कर देने वाला था। वह दिल्ली में घुसा, तुग़लक़ फ़ौजों को हराया, और शहर को लूट लिया।

तैमूर के अपने दरबारी इतिहासकार, शराफ़-अद-दीन अली यज़दी, के मुताबिक़, तैमूर ने शहर लूटे जाने से पहले दिल्ली में 1,00,000 से ज़्यादा हिंदू और मुस्लिम क़ैदियों के क़त्ल का हुक्म दिया। उसे डर था कि वे लूट के दौरान बग़ावत न कर दें। जब लूट शुरू हुई, तो मरने वालों की संख्या और भी कहीं ज़्यादा थी। आधुनिक अनुमान कहते हैं कि दिल्ली की लूट में 2,00,000 या उससे ज़्यादा लोग मरे। शहर लगभग पूरी तरह उजड़ गया। यह एक सदी से ज़्यादा तक नहीं उबर पाया।

तैमूर रुका नहीं। वह लूट को अपनी राजधानी समरक़ंद ले गया, जहाँ उसने भारतीय दौलत से बने स्मारक खड़े किए। वह पीछे एक कमज़ोर, टूटी हुई सल्तनत छोड़ गया। यह याद रखना अहम है जब हम आगे मुग़लों की बात करें, क्योंकि बाबर, मुग़ल वंश का संस्थापक, अपने पिता की ओर से तैमूर का सीधा वंशज था। मुग़ल ख़ुद को तैमूर का वारिस मानते थे।

पानीपत की पहली लड़ाई, 1526 ईस्वी

दिल्ली सल्तनत का अंत 21 अप्रैल, 1526 को आया, दिल्ली से लगभग 90 किलोमीटर उत्तर में पानीपत नाम की जगह पर।

बाबर नाम का एक मध्य एशियाई राजकुमार, मूल रूप से आज के उज़्बेकिस्तान की फ़रग़ना घाटी से, अफ़ग़ानिस्तान में अपने लिए एक राज्य बना रहा था। वह तैमूर (पिता की ओर से) और चंगेज़ ख़ान (माँ की ओर से) — दोनों का वंशज था। उसकी फ़ौज छोटी पर बहुत संगठित थी, और उसके पास एक अहम बढ़त थी — बारूद वाले हथियार। उसके पास तोपें और बंदूक़ें थीं, जो भारत में अभी दुर्लभ थीं। उसके पास मध्य एशियाई घुड़सवारी की वे चालें भी थीं जो भारतीयों ने पहले नहीं देखी थीं।

बाबर ने भारत पर हमला किया और पानीपत में इब्राहिम लोदी की कहीं बड़ी फ़ौज से भिड़ा। बाबर के पास शायद 12,000 से 15,000 आदमी थे। लोदी के पास शायद 50,000 से 1,00,000, जिनमें सैकड़ों युद्ध-हाथी थे। यह लोदी की जीत होनी चाहिए थी। पर बाबर ने अपनी तोपों से लोदी क़तारें तोड़ दीं, अपने घुड़सवार चारों ओर से घुमाए, और कुछ ही घंटों में बड़ी फ़ौज को कुचल दिया। इब्राहिम लोदी लड़ाई में मारा गया। बाबर ने दिल्ली और आगरा ले लिए। मुग़ल वंश का जन्म हो गया।

मुग़ल: छह महान बादशाह, 1526 से 1707 ईस्वी

मुग़ल साम्राज्य मानव-इतिहास के सबसे अमीर और सांस्कृतिक रूप से सबसे उपजाऊ साम्राज्यों में से एक बना। अपने शिखर पर, लगभग 1700 ईस्वी में, मुग़ल साम्राज्य ने लगभग पूरे दक्षिण एशिया पर राज किया और उसकी लगभग 15 करोड़ प्रजा थी। उसका जीडीपी, कुछ अनुमानों के मुताबिक़, पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था का लगभग एक-चौथाई था। मुग़लों के भव्य शहर, जैसे दिल्ली और आगरा, दुनिया के सबसे बड़े और सबसे अमीर शहरों में थे।

मुग़लों के परंपरागत रूप से छह महान बादशाह गिने जाते हैं। आइए, इन्हें देखें।

बाबर (1526 से 1530 ईस्वी)। संस्थापक। पानीपत की बड़ी जीत के सिर्फ़ चार साल बाद उसकी मौत हो गई। वह एक उलझा हुआ आदमी था — शानदार सेनापति, ईमानदार आत्मकथा-लेखक जिसने अपनी जीवनी *बाबरनामा* लिखी, एक कवि, और एक शराबी भी जिसने आख़िरकार शराब छोड़ दी। उसे भारत में कभी घर जैसा नहीं लगा और वह मध्य एशिया को याद करता रहा। बाबरनामा यहाँ की जलवायु, खाने और कीड़ों की शिकायत करता है।

हुमायूँ (1530 से 1556 ईस्वी)। बाबर का बेटा। वह दयालु पर बहुत असरदार शासक नहीं था। उसने शेर शाह सूरी नाम के एक अफ़ग़ान विद्रोही से साम्राज्य गँवा दिया और 15 साल फ़ारस में निर्वासन में बिताए। आख़िरकार लौटकर उसने दिल्ली दोबारा जीती, पर एक साल बाद ही अपने पुस्तकालय की सीढ़ियों से किताबों का गट्ठर लिए गिरकर मर गया। वैसे, शेर शाह सूरी भारतीय इतिहास के सबसे कुशल प्रशासकों में से एक था। उसने ग्रांड ट्रंक रोड बनवाई जो आज भी मौजूद है, कर-व्यवस्था सुधारी, और रुपये को मानकीकृत किया — वही मुद्रा जो भारत आज भी इस्तेमाल करता है। वह मुसलमान और भारतीय और एक बेहतरीन शासक था।

अकबर (1556 से 1605 ईस्वी)। अकबर हुमायूँ का बेटा था और आम तौर पर मुग़लों में सबसे महान माना जाता है। वह 13 साल की उम्र में गद्दी पर बैठा और 49 साल राज किया। उसने साम्राज्य को ज़्यादातर उपमहाद्वीप तक फैलाया। पर अकबर को ख़ास बनाती है उसकी धार्मिक नीति। अकबर ने अपने दरबार में बहस के लिए हर धर्म के विद्वान बुलाए — हिंदू, मुसलमान, ईसाई (पुर्तगाली जेसुइट पादरियों समेत), ज़रथुस्त्री, जैन और बौद्ध। आख़िरकार उसने अपना एक मिला-जुला धर्म "दीन-ए-इलाही" बनाने की कोशिश की, जिसमें कई धर्मों के तत्व मिलाए गए। यह कभी नहीं चला, पर ख़ुद यह कोशिश दिखाती है कि वह धार्मिक सवालों को कितनी गंभीरता से लेता था।

अकबर ने 1564 ईस्वी में ग़ैर-मुसलमानों पर लगा जज़िया कर ख़त्म कर दिया। उसने हिंदू राजपूत राजकुमारियों से शादियाँ कीं और उनके रिश्तेदारों को अपने दरबार में बड़ी हस्तियाँ बनाया। उसका राजस्व

मंत्री, राजा टोडर मल, एक हिंदू था। उसका मुख्य सेनापति, राजा मान सिंह, एक हिंदू राजपूत था। अकबर का बेटा, अगला बादशाह, आधा राजपूत था। अपने समय और हमारे — दोनों के पैमानों पर, अकबर धार्मिक सहिष्णुता के प्रति उल्लेखनीय रूप से समर्पित था। इतिहासकार विंसेंट स्मिथ ने उसे भारतीय इतिहास का "पहला आधुनिक राजा" कहा।

> *"अकबर का राज दुनिया के इतिहास में धार्मिक सहिष्णुता के महान क्षणों में से एक है — एक विविध आबादी को ज़बरदस्ती के बजाय समावेश से चलाने की कोशिश।"*
>
> *— ऑड्री ट्रश्के, कल्चर ऑफ़ एनकाउंटर्स, 2016*

जहाँगीर (1605 से 1627 ईस्वी)। अकबर का बेटा। उसने अपने पिता की ज़्यादातर सहिष्णु नीतियाँ जारी रखीं। वह चित्रकला और बाग़ों का बड़ा संरक्षक था। वह अफ़ीम और शराब का आदी भी था, जिसने उसके बाद के राज को कमज़ोर किया। उसकी पत्नी नूरजहाँ कई साल तक असल में गद्दी के पीछे की ताक़त रही, और भारतीय इतिहास की सबसे दिलचस्प औरतों में से एक है।

शाहजहाँ (1628 से 1658 ईस्वी)। निर्माता। यही वह बादशाह है जिसने अपनी पत्नी मुमताज़ महल की याद में ताजमहल बनवाया, जिसकी मौत उनके चौदहवें बच्चे को जन्म देते हुए हुई। ताजमहल बनने में 22 साल लगे और यह आज भी धरती की सबसे ख़ूबसूरत इमारतों में से एक माना जाता है। शाहजहाँ ने दिल्ली में लाल क़िला, जामा मस्जिद (भारत की सबसे बड़ी मस्जिद) भी बनवाई, और दिल्ली के बड़े हिस्से को "शाहजहाँनाबाद" नाम की एक नई राजधानी के रूप में दोबारा बनाया। उसके राज में मुग़ल साम्राज्य अपने सबसे अमीर मुक़ाम पर था, हालाँकि कुछ बुरे संकेत भी थे कि साम्राज्य अपनी हैसियत से ज़्यादा ख़र्च कर रहा है।

औरंगज़ेब (1658 से 1707 ईस्वी)। यही वह है जिस पर हमें सावधानी से बात करनी होगी, क्योंकि वह सबसे विवादित मुग़ल बादशाह है।

औरंगज़ेब: पलटाव

औरंगज़ेब शाहजहाँ का तीसरा बेटा था। उसने 1658 में अपने भाइयों के ख़िलाफ़ एक ख़ूनी गृहयुद्ध के बाद गद्दी ली, उनमें से दो को मारकर और अपने ही पिता को आगरा क़िले में शाहजहाँ की ज़िंदगी के आख़िरी आठ साल क़ैद रखकर। शाहजहाँ अपनी क़ैद की खिड़की से अपनी पत्नी के मक़बरे — ताजमहल — को ताकते हुए मरा।

औरंगज़ेब ने 49 साल राज किया, किसी भी मुग़ल का सबसे लंबा राज। उसने साम्राज्य को उसके सबसे बड़े इलाक़ाई फैलाव तक पहुँचाया, दक्षिण भारत के वे हिस्से जीते जिन पर उसके पुरखों का कभी क़ब्ज़ा नहीं रहा था। पर उसने अकबर और उसके उत्तराधिकारियों की कई सहिष्णु नीतियाँ भी पलट दीं।

औरंगज़ेब ने 1679 में ग़ैर-मुसलमानों पर जज़िया कर फिर से लगा दिया, एक सदी से ज़्यादा उसके ख़त्म रहने के बाद। उसने कई बड़े हिंदू मंदिर तबाह किए, जिनमें वाराणसी का विश्वनाथ मंदिर (हिंदू धर्म के सबसे पवित्र स्थलों में से एक) और मथुरा का केशवनाथ मंदिर (कृष्ण का जन्मस्थान) शामिल हैं। उसने 1675 में नौवें सिख गुरु, गुरु तेग़ बहादुर को, इस्लाम क़बूल करने से इनकार करने पर मरवा दिया। इस काम ने मुग़ल राज के

ख़िलाफ़ सिख प्रतिरोध को भड़का दिया। सिखों की अपनी "ख़ालसा" पहचान, जो 1699 में गुरु गोबिंद सिंह ने बनाई, औरंगज़ेब की धार्मिक नीतियों का सीधा जवाब थी।

साथ ही, तस्वीर सिर्फ़ "औरंगज़ेब एक कट्टर था" से ज़्यादा उलझी हुई है। इतिहासकार ऑड्री ट्रश्के अपनी 2017 की किताब *औरंगज़ेब: द मैन एंड द मिथ* में बताती हैं कि:

- औरंगज़ेब ने अपने प्रशासन में किसी भी पहले के मुग़ल से ज़्यादा हिंदू रखे — अपने सबसे बड़े दरबारियों में 31.6 प्रतिशत हिंदू, जबकि अकबर के समय यह लगभग 22.5 प्रतिशत था।
- उसके ज़्यादातर युद्ध दूसरे मुसलमानों के ख़िलाफ़ लड़े गए, ख़ास तौर पर दक्कन में।
- उसने कई हिंदू मंदिरों को अनुदान और सुरक्षा दी, जबकि दूसरे तबाह किए। तबाही अक्सर ख़ास उन हिंदू शासकों के ख़िलाफ़ राजनीतिक रूप से प्रेरित होती थी जिन्होंने बग़ावत की थी, यह कोई आम नीति नहीं थी।
- उसने नए मंदिर बनाने पर रोक लगाई, पर मौजूदा मंदिरों को चलने दिया।

तो आख़िर सच क्या है? क्या औरंगज़ेब कट्टर था या राजनीतिक रूप से व्यावहारिक? जवाब लगता है — दोनों। वह एक गंभीर सुन्नी मुसलमान था जो मानता था कि उसका काम धार्मिक क़ानून को, जैसा वह उसे समझता था, लागू करना है। वह सुविधा होने पर धार्मिक नीतियों को राजनीतिक औज़ार की तरह इस्तेमाल करता था। उसने अपने भाई मारे और पिता को क़ैद किया। उसने कुछ मंदिर तबाह किए और कुछ की रक्षा की। वह एक उलझा हुआ, निर्मम, असरदार बादशाह था, जिसके राज के भारत के धार्मिक नक़्शे पर सचमुच के नतीजे हुए।

जो साफ़ है वह यह है कि औरंगज़ेब के नीचे, मुग़ल राज और उसकी हिंदू-बहुसंख्यक प्रजा के बीच का सामाजिक समझौता उन तरीक़ों से तनाव में आ गया जैसा अकबर के नीचे नहीं था। पूरे साम्राज्य में बग़ावतें फूट पड़ीं। पश्चिम में शिवाजी के नीचे मराठे उठ खड़े हुए। उत्तर में सिख अपने दसवें गुरु के नीचे सैन्य रूप में ढल गए। राजपूत बेचैन हो उठे। जाटों ने बग़ावत की। 1707 ईस्वी में जब औरंगज़ेब मरा, साम्राज्य आर्थिक रूप से थका हुआ और राजनीतिक रूप से बिखरा हुआ था।

अगली सदी मुग़ल ताक़त के धीमे पतन और क्षेत्रीय भारतीय शक्तियों के उभार की गवाह बनेगी, जो आख़िरकार ब्रिटिश क़ब्ज़े तक ले जाएगी। पर वह इस भाग के दूसरे खंड की कहानी है।

मुग़ल काल के बारे में कुछ ज़रूरी बातें जो आपको पता होनी चाहिए

इस अध्याय को बंद करने से पहले, मैं आपको कुछ संदर्भ देता हूँ जो अक्सर इस बहस में खो जाता है कि मुग़ल अच्छे थे या बुरे।

मुग़ल भारतीय थे। बाबर मध्य एशिया से था, पर उसके बाद का हर बादशाह भारत में पैदा हुआ, भारत में पला, और भारत में ही मरा। वे फ़ारसी, उर्दू और हिंदी बोलते थे। वे भारतीय खाना खाते थे। उनकी माएँ और दादियाँ अक्सर भारतीय होती थीं (अक्सर राजपूत हिंदू)। अकबर की पीढ़ी तक, और शाहजहाँ की पीढ़ी तक तो पक्के तौर पर, मुग़ल देश के किसी और जितने ही भारतीय हो चुके थे, भले ही वे मुसलमान थे और

सांस्कृतिक रूप से मध्य एशिया से जुड़े थे। उन्हें विदेशी कहना भारतीय पहचान की एक अहम बात चूकना है, जो हमेशा अलग-अलग लोगों को समा लेकर उन्हें पूरे का हिस्सा बनाने के बारे में रही है।

मुग़ल काल वही समय था जब आज की भारतीय संस्कृति का बड़ा हिस्सा अपने आधुनिक रूप में आया। भारतीय शास्त्रीय संगीत और लघु-चित्रकला मुग़ल संरक्षण में नई ऊँचाइयों पर पहुँची। उर्दू एक साहित्यिक भाषा के रूप में उभरी। बिरयानी, कबाब, पराठा और नान वाला भारतीय खाना काफ़ी हद तक मुग़ल असर वाला है। ताजमहल अब दुनिया के ज़्यादातर लोगों के लिए भारत का दृश्य-प्रतीक है। वास्तुकला, संगीत, साहित्य, खाना — मुग़ल योगदान को ठुकराना उस बहुत-से चीज़ को ठुकराना होगा जो आज भारतीय संस्कृति को निराला बनाती है।

इस्लाम में धर्म-परिवर्तन एक धीमी, कई सदियों लंबी प्रक्रिया थी। आज के ज़्यादातर भारतीय मुसलमान हमलावरों के वंशज नहीं हैं। वे उन भारतीय हिंदुओं और बौद्धों के वंशज हैं जिन्होंने सदियों में धर्म बदला। उन्होंने क्यों बदला? कई वजहें। कुछ को मजबूर किया गया। कुछ ने जाति-व्यवस्था से बचने के लिए बदला, जो निचली जातियों के लिए कहीं ज़्यादा निर्मम थी। कुछ ने इसलिए बदला क्योंकि सूफ़ी मुस्लिम संत एक निजी धर्म देते थे जो हिंदू भक्ति आंदोलनों से असरदार ढंग से होड़ करता था। (सूफ़ी इस्लाम की एक नरम, रहस्यवादी, प्रेम पर ज़ोर देने वाली धारा है।) कुछ ने इसलिए बदला क्योंकि मुस्लिम शासक धर्म बदलने वालों को कर-छूट और सरकारी नौकरियाँ देते थे। कुछ ने शादी से बदला। कुछ ने इसलिए बदला क्योंकि वे ऐसे जातीय समूह थे, ख़ास तौर पर बंगाल और पंजाब में, जहाँ हिंदू पहचान कमज़ोर थी।

भारतीय हिंदू धर्म अपनी विकेंद्रित बनावट की वजह से बचा। यूरोपीय पेगन धर्म के उलट, जो स्थानीय पुजारियों और शासकों पर निर्भर था, हिंदू धर्म का कोई केंद्रीय मुखिया नहीं था। बदलवाने के लिए कोई हिंदू पोप नहीं था। तबाह करने के लिए कोई एक धार्मिक केंद्र नहीं था। हज़ार मंदिर भी तबाह कर दिए जाते, तब भी गाँवों में दस हज़ार और मौजूद रहते, जहाँ विजेता पहुँच ही नहीं सकते थे। हिंदू धर्म मंदिर जितना ही घर में भी रहता था। हर हिंदू परिवार के घर में एक पूजा-स्थान था। हर गाँव के अपने देवता थे। पुजारियों को मारकर या पुस्तकालय जलाकर आप इसे मिटा नहीं सकते थे। यह बहुत बिखरा हुआ था।

भारत के पक्ष में उसका विशाल भूगोल भी था। मुग़ल साम्राज्य ने उत्तर भारत पर असरदार राज किया, पर दक्षिण पर उसकी पकड़ हमेशा कमज़ोर रही। मराठे, उनसे पहले विजयनगर साम्राज्य, और दक्षिण के क्षेत्रीय हिंदू राज्यों ने उत्तर में सदियों के मुस्लिम राज के दौरान अपनी पहचान और अपना धर्म बनाए रखा। भारत इतना बड़ा और इतना विविध है कि उसे पूरी तरह जीता नहीं जा सकता। हमेशा ऐसे इलाक़े रहे जो हिंदू बने रहे, पुराने मंदिर चलाते रहे, और ग्रंथ सँभालते रहे। यह भौगोलिक बढ़त उन सबसे कम सराही गई वजहों में से एक है, जिनके कारण हिंदू धर्म वहाँ बचा जहाँ यूरोपीय पेगन धर्म नहीं बच पाया।

> *"हिंदू धर्म इसलिए बचा क्योंकि यह ऐसा धर्म नहीं था जिसे केंद्र से पकड़ा जा सके। यह गाँव में, घर में, परिवार की रस्म में रहता था। आप एक राज्य ले सकते हैं। आप एक साथ दस हज़ार घर नहीं ले सकते।"*
>
> *— डायना एक, इंडिया: ए सेक्रेड ज्योग्राफ़ी, 2012*

अब हम भारतीय इतिहास के लगभग 4,500 साल देख चुके हैं — सिंधु घाटी के योजना से बने शहरों से लेकर औरंगज़ेब की मौत तक। हमने भारत के स्वर्ण-युग और उसकी तबाहियाँ देखीं। हमने इस्लाम का लंबा, धीमा,

उलझा हुआ आना देखा — उसकी हिंसा के साथ, और भारतीय जीवन में उसके आख़िरी मेल के साथ भी।

इस किताब के अगले भाग में, हम भारतीय सभ्यता के सामने अगला बड़ा ख़तरा देखेंगे — यूरोपीय ताक़तों, ख़ास तौर पर अंग्रेज़ों, का आना। वे वह करेंगे जो मुग़ल कभी ठीक से नहीं कर पाए। वे पूरे भारत को एक ही शासक के नीचे ले आएँगे, उसकी दौलत निचोड़ेंगे, उसकी अर्थव्यवस्था का ढाँचा बदलेंगे, और उसे ईसाई बनाने की कोशिश करेंगे। आख़िरी काम में वे ज़्यादातर नाकाम रहेंगे, पर पहले तीन में वे इस तरह कामयाब होंगे कि भारत आज तक उससे उबर रहा है। कैसे, और क्यों — यह हम भाग तीन में देखेंगे।

— ◆ —

खंड एक समाप्त। भाग तीन आगे आएगा।

लवप्रीत सिंह

भूले-बिसरे देवता

वह कंपनी जो एक पूरे देश को निगल गई
यूरोप ने भारत के शरीर और आत्मा — दोनों को जीतने की कोशिश कैसे की

लेखक

लवप्रीत सिंह

— भाग तीसरा —
यह कहानी कि दुनिया का सबसे अमीर देश सबसे ग़रीब कैसे बना,
और जहाँ व्यापारी कामयाब हुए, वहाँ धर्म-प्रचारक क्यों नाकाम रहे।

आगे बढ़ने से पहले एक बात

इस किताब के भाग दो में, हमने भारतीय इतिहास के 4,500 साल देखे। हमने सिंधु घाटी के योजना से बने शहर देखे, उपनिषदों की दार्शनिक गहराई देखी, मौर्य और गुप्त के स्वर्ण-युग देखे, और इस्लाम का लंबा, उलझा हुआ आना देखा। हमने 1707 ईस्वी में औरंगज़ेब की मौत पर बात ख़त्म की थी, जब मुग़ल साम्राज्य आर्थिक रूप से टूटा और राजनीतिक रूप से बिखरा हुआ था।

अब हम विदेशी आगंतुकों की अगली लहर की ओर मुड़ते हैं। यह लहर कुछ अहम तरीक़ों से अलग थी। यह उत्तर से, घोड़ों पर, ज़मीन के रास्ते नहीं आई, जैसे मुस्लिम हमलावर 700 साल से आते रहे थे। यह समुद्र के रास्ते, पश्चिम से आई। यह पहले विजेता फ़ौजों के साथ नहीं आई। यह मसाले और चाँदी लिए व्यापारियों के साथ आई। और आख़िर में, इन्हीं व्यापारियों ने — किसी फ़ौज ने नहीं — वह कर दिखाया जो कोई मुस्लिम बादशाह कभी नहीं कर पाया था। उन्होंने पूरे भारत को एक ही शासक के नीचे ले आया।

यह एक अजीब विरोधाभास की भी कहानी है। जो यूरोपीय भारत आए, वे एक ऐसे महाद्वीप से आए थे जो गहराई से ईसाई बन चुका था, जिसके पास सदियों की धर्म-प्रचार परंपरा थी। वे भारत को अपने धर्म में बदलने के लिए दृढ़ थे। उन्होंने पादरी भेजे। उन्होंने गिरजाघर बनाए। उन्होंने मिशनों को पैसा दिया। फिर भी, 450 साल की कोशिश के बाद, आज सिर्फ़ लगभग 2.3 प्रतिशत भारतीय ईसाई हैं। इसकी तुलना लातिन अमेरिका से कीजिए, जहाँ उन्हीं यूरोपीय ताक़तों ने उन्हीं सदियों में पूरी-पूरी सभ्यताएँ बदल दीं। ईसाई धर्म मेक्सिको और ब्राज़ील में कामयाब क्यों हुआ, और भारत में नाकाम क्यों रहा? यह धार्मिक इतिहास के सबसे दिलचस्प सवालों में से एक है। हम इसका जवाब देंगे।

मैं आपको चेता देना चाहता हूँ। इस हिस्से का कुछ हिस्सा दर्दनाक है। भारत का ब्रिटिश राज, कुछ मायनों में, उसके पूरे लंबे इतिहास में भारत के साथ हुई सबसे बुरी चीज़ थी। मुग़ल आक्रमणों से भी बुरी। तैमूर से भी बुरी। अकालों ने किसी भी युद्ध से ज़्यादा लोग मारे। आर्थिक तबाही ने एक ऐसी सभ्यता को तोड़ दिया जो हज़ारों साल से अमीर थी। पर यह कहानी एक उल्लेखनीय जीवित बचने की भी है — कि भारतीयों ने पलटवार करना कैसे सीखा, अपने ही ज़ुल्म करने वालों के औज़ार उन्हीं के ख़िलाफ़ कैसे इस्तेमाल किए, और कैसे, सारी मुश्किलों के बावजूद, उन्होंने अपना देश वापस ले लिया।

> **दो शब्द फिर से याद कर लीजिए।** "ईस्वी" यानी ईसा मसीह के जन्म के बाद के साल (जैसे 2026 ईस्वी = आज)। "ई.पू." यानी "ईसा-पूर्व" — उनके जन्म से पहले के साल, जो उल्टे चलते हैं (1000 ई.पू., 500 ई.पू. से ज़्यादा पुराना समय है)।

— ◆ —

लवप्रीत सिंह

भाग तीसरे की विषय-सूची

XVI. समुद्री रास्ता: पुर्तगाली, डच, फ़्रांसीसी, और मसाले की होड़

XVII. कंपनी: एक व्यापारी दफ़्तर एक सरकार कैसे बना

XVIII. महान धन-निकासी: भारत को ग़रीब बनाकर ब्रिटेन अमीर कैसे बना

XIX. अकाल: चार करोड़ मौतें

XX. भारत में ईसाई धर्म ज़्यादातर नाकाम क्यों रहा

XXI. 1857 और लंबी जागृति

XXII. आज़ादी का आंदोलन और बँटवारे की क़ीमत

इस किताब का भाग चार चीन और जापान की ओर मुड़कर कहानी पूरी करेगा, और पूछेगा कि जो सभ्यताएँ नहीं झुकीं, उनसे हम क्या सीख सकते हैं।

“भारत में ब्रिटिश साम्राज्य एक व्यापारी-साहसी का राज है — जिसके हाथ में एक शाही परवाना, एक बेड़ा, और एक बाइबल है, और जो अपने से भी पुरानी एक सभ्यता पर राज कर रहा है।”

— विल ड्यूरेंट, द केस फ़ॉर इंडिया, 1930

— ◆ —

यह किसी धर्म पर हमला नहीं है। यह सिर्फ़ इतिहास की एक सच्ची बात है। इसे खुले मन से पढ़िए।

XVI.

समुद्री रास्ता: पुर्तगाली, डच, फ़्रांसीसी, और मसाले की होड़

यूरोपीय भारत क्यों आए, यह समझने के लिए आपको काली मिर्च को समझना होगा। काली मिर्च — वही मसाला जो आप खाने पर पीसकर डालते हैं — लगभग 2,000 साल तक दुनिया का सबसे क़ीमती व्यापारिक माल था। यह सिर्फ़ दक्षिण भारत के एक छोटे इलाक़े और दक्षिण-पूर्व एशिया के कुछ हिस्सों में उगती थी। यूरोप को इसकी सख़्त चाह थी। अमीर लोग इसके लिए भारी दाम चुकाते थे। इसके व्यापार से पूरे-पूरे ख़ानदान अमीर बन जाते थे।

सदियों तक, इस व्यापार पर अरब और फ़ारसी सौदागरों का क़ब्ज़ा रहा, जो भारतीय माल मिस्र भेजते थे, जहाँ वेनिस और जेनोआ के इतालवी बिचौलिए उसे उठाते और भारी मुनाफ़े पर यूरोप में बेचते थे। इस कड़ी का हर आदमी अमीर होता था। काली मिर्च उगाने वाले भारतीय, उसे ढोने वाले अरब, उसे सँभालने वाले मिस्री, यूरोप में बेचने वाले इतालवी। इस कड़ी में सिर्फ़ आख़िरी ख़रीदार — बाक़ी का यूरोप — अमीर नहीं हो रहा था।

1400 के दशक के आख़िर तक, दो चीज़ें बदलीं। पहली, उस्मानी तुर्कों ने 1453 में क़ुस्तुंतुनिया जीत लिया और भारत का ज़मीनी रास्ता और महँगा बना दिया। दूसरी, यूरोपीय जहाज़-निर्माण की तकनीक इतनी सुधर गई कि कुछ हिम्मती नाविक एक पागलपन भरा सवाल पूछने लगे — क्यों न हम बस अफ़्रीका के चारों ओर से होकर सीधे भारत पहुँच जाएँ?

वास्को द गामा भारत पहुँचता है, 1498

यूरोप से भारत तक पूरा रास्ता तय करने वाला पहला यूरोपीय वास्को द गामा नाम का एक पुर्तगाली कप्तान था। वह जुलाई 1497 में चार जहाज़ों और लगभग 170 आदमियों के साथ लिस्बन से निकला। ज़्यादातर लोगों को लगा वह मर जाएगा। वह अफ़्रीका के तट के साथ-साथ दक्षिण को गया, उसके सबसे दक्षिणी सिरे "केप ऑफ़ गुड होप" का चक्कर काटा, फिर पूर्वी अफ़्रीकी तट के साथ ऊपर चढ़ा, जहाँ उसे अरब सौदागर मिले जो भारत का रास्ता जानते थे। उसने उनमें से एक को रास्ता-दिखाने वाले के तौर पर रख लिया। 20 मई, 1498 को, पुर्तगाल से निकलने के लगभग दस महीने बाद, वह दक्षिण भारत के मालाबार तट पर कालीकट उतरा।

वास्को द गामा के आगमन को कभी-कभी एशिया में यूरोपीय साम्राज्यवाद की शुरुआत कहा जाता है। यह दुनिया के इतिहास की सबसे नतीजे वाली यात्राओं में से एक है। उस पल से, यूरोपीय जहाज़ सीधे भारत पहुँच सकते थे। जिन अरबों और इतालवियों ने सदियों मसाला-व्यापार पर क़ब्ज़ा रखा था, उनकी इजारेदारी ख़त्म होने वाली थी। और उनके साथ बहुत कुछ और भी बदलने वाला था।

कालीकट में वास्को द गामा का स्वागत असल में अटपटा रहा। वहाँ के शासक, ज़ामोरिन, उसके तोहफ़ों से प्रभावित नहीं हुए। भारतीय पैमानों पर, द गामा जो यूरोपीय माल लाया था, वह घटिया था। ज़ामोरिन ने नम्रता से पूछा कि क्या वह कुछ सोना-चाँदी लाया है। नहीं लाया था। आख़िरकार द गामा ने अपने जहाज़ मसालों से भरे — जिनकी क़ीमत कुछ हद तक उन्हीं अरब सौदागरों के सोने से चुकाई जिन्हें उसने किनारे किया था — और घर रवाना हुआ। जब वह पुर्तगाल पहुँचा, जो मसाले वह लाया था उनकी क़ीमत पूरी मुहिम के ख़र्च की लगभग 60 गुना थी। पुर्तगालियों को समझ आ गया कि उनके हाथ एक सोने की खान लग गई है।

पुर्तगाली रणनीति: हिंसा के ज़रिए व्यापार

दूसरा पुर्तगाली अभियान 1500 में तेरह जहाज़ों के साथ लौटा। इस बार वे सिर्फ़ व्यापार करने नहीं आए थे। वे क़ब्ज़ा करने आए थे। हिंद महासागर में पुर्तगाली ताक़त असल में जिस आदमी ने जमाई, वह था अफ़ोंसो दे अल्बुकर्क, जो 1509 में भारत का दूसरा पुर्तगाली गवर्नर बना।

अल्बुकर्क की योजना सीधी और निर्मम थी। वह ख़ुद भारत को नहीं जीत सकता था। भारत इसके लिए बहुत बड़ा और बहुत ताक़तवर था। पर वह हिंद महासागर के व्यापार-रास्तों के दम-घोंटू मोड़ों पर क़ब्ज़ा कर सकता था। उसने 1510 में भारत के पश्चिमी तट पर गोवा क़ब्ज़ाया। उसने 1511 में मलय प्रायद्वीप पर मलक्का क़ब्ज़ाया, जो हिंद महासागर और दक्षिण चीन सागर के बीच की जलसंधि पर नियंत्रण रखता था। उसने 1515 में फ़ारस की खाड़ी के मुहाने पर होर्मुज़ क़ब्ज़ाया।

इन तीन बंदरगाह शहरों के साथ, पुर्तगाली बड़े व्यापार-रास्तों पर चलने वाले किसी भी जहाज़ पर कर लगा सकते थे या उसे डुबो सकते थे। उन्होंने "कार्ताज़" नाम के पासों की एक व्यवस्था चलाई। जो भारतीय और अरब सौदागर कार्ताज़ का दाम चुकाते, वे सुरक्षित जहाज़ चला सकते थे। जो नहीं चुकाते, उन्हें डुबो दिया जाता और उनका माल ज़ब्त कर लिया जाता। यह काग़ज़ की चादर ओढ़े समुद्री डकैती थी। पुर्तगालियों ने कभी ज़्यादा भारतीय ज़मीन पर क़ब्ज़ा नहीं किया। उन्होंने बस समुद्रों पर क़ब्ज़ा रखा। और अमीर बनने के लिए इतना ही काफ़ी था।

पुर्तगाली बेहद ख़ूँख़ार भी थे। 1502 में, अपनी दूसरी यात्रा पर, ख़ुद वास्को द गामा ने "मीरी" नाम का एक अरब तीर्थयात्री जहाज़ पकड़ा, जिसमें मक्का से लौट रहे लगभग 400 मुस्लिम तीर्थयात्री थे, जिनमें औरतें और बच्चे भी थे। द गामा ने जहाज़ लूटा। फिर उसने यात्रियों के अभी भी सवार रहते उसे जला दिया। लगभग सब मर गए। इतिहासकार संजय सुब्रह्मण्यम ने अपनी 1997 की किताब *द करियर एंड लीजेंड ऑफ़ वास्को द गामा* में इस घटना को कई स्रोतों से दर्ज किया है। यह शुरुआती औपनिवेशिक दौर के सबसे बुरे अकेले अत्याचारों में से एक है, और इसने एशिया में पुर्तगाली बरताव का रंग तय कर दिया।

गोवा का धर्म-न्यायालय, 1560 से 1812

> **"धर्म-न्यायालय" (इंक्विज़िशन) क्या था?** यह कैथोलिक चर्च की एक अदालत थी, जो लोगों के धर्म की "जाँच" करती थी और जिसे ग़ैर-कैथोलिक माना जाता, उसे कड़ी सज़ा देती थी — कभी-कभी ज़िंदा जला तक देती थी। यूरोप का "स्पेनी इंक्विज़िशन" मशहूर है; पर भारत में गोवा वाला इससे भी ज़्यादा निर्मम था।

मैं एक ऐसी बात पर थोड़ा समय बिताना चाहता हूँ जिस पर पर्याप्त चर्चा नहीं होती — गोवा का धर्म-न्यायालय।

पुर्तगालियों ने 1510 से 1961 तक गोवा को भारत में अपना मुख्य उपनिवेश रखा। उन 250 सालों में से, 1560 से 1812 तक, उन्होंने गोवा इंक्विज़िशन नाम की एक धार्मिक अदालत चलाई। आधिकारिक तौर पर इसका मक़सद यह जाँचना था कि कैथोलिक बने (धर्म बदले) लोग चुपके से हिंदू, यहूदी या इस्लाम धर्म तो नहीं मान रहे। अमल में, इसने पूरे इलाक़े को आतंकित किया।

गोवा का धर्म-न्यायालय असल में ज़्यादा मशहूर स्पेनी धर्म-न्यायालय से भी ज़्यादा निर्मम था। इतिहासकार अल्फ़्रेडो दे मेलो ने अपनी 1995 की किताब *मेमॉयर्स ऑफ़ गोवा* में दर्ज किया है कि अपने 252 साल के चलने में, इस अदालत ने कम-से-कम 16,202 लोगों पर मुक़दमा चलाया। उनमें से लगभग 57 को ज़िंदा जला दिया गया — हिंदू धर्म में लौटने, चुपके से हिंदू त्योहार मनाने, सूअर का माँस खाने से इनकार करने, या घर में हिंदू पवित्र ग्रंथ रखने जैसे "गुनाहों" के लिए सज़ा देकर।

इस अदालत ने कोंकणी भाषा — गोवा की स्थानीय भाषा — पर रोक लगा दी, क्योंकि वह हिंदू पहचान से जुड़ी थी। इसने हिंदू और मुस्लिम किताबें बड़े पैमाने पर नष्ट कीं। इसने हिंदू रस्मों पर रोक लगाई, जिनमें हिंदू विवाह और हिंदू अंतिम संस्कार शामिल थे। इसने कई हिंदुओं के लिए कैथोलिक बपतिस्मा अनिवार्य कर दिया। पुर्तगाली गोवा में हिंदू मंदिर व्यवस्थित ढंग से ढहाए गए। गोवा में आज जो ज़्यादातर मंदिर हैं, वे या तो दोबारा बने हुए हैं या आस-पास के उन इलाक़ों में हैं जहाँ हिंदू भागकर गए।

उस समय के ख़ुद कैथोलिक पादरी तक सिहर उठे थे। इतालवी जेसुइट पादरी फ़िलिप्पो सासेत्ती, जो 1580 के दशक में गोवा में रहा, ने फ़्लोरेंस वापस चिट्ठियाँ लिखकर उस क्रूरता की शिकायत की जो उसने अपनी आँखों देखी। वोल्तेयर ने बाद में गोवा के धर्म-न्यायालय को धर्म के नाम पर बनाई गई सबसे भ्रष्ट संस्थाओं में से एक बताया।

> *"गोवा का धर्म-न्यायालय ईसाई धर्म-न्यायालयों के पूरे इतिहास में सबसे निर्मम है। यह एक ऐसा भयावह सच है जिसे ऐतिहासिक स्मृति ने काफ़ी हद तक दबा दिया है।"*
>
> *— ए. के. प्रियोलकर, द गोवा इंक्विज़िशन, 1961*

आख़िरकार 1812 में यह अदालत बंद कर दी गई — कुछ हद तक उदारवादी पुर्तगाली नेताओं के दबाव से, और कुछ हद तक इसलिए कि तब तक भारत में पुर्तगाली ताक़त ढह चुकी थी। पर गोवा की संस्कृति को नुक़सान पहुँच चुका था। हज़ारों हिंदू परिवारों ने उत्पीड़न से बचने के लिए धर्म बदल लिया था। गोवा की आज की अनोखी भारत-पुर्तगाली संस्कृति, अपने कैथोलिक गिरजाघरों और कोंकणी भाषा के मेल के साथ, जितनी शांतिपूर्ण सांस्कृतिक आदान-प्रदान की उपज है, उतनी ही इस हिंसा की भी।

मैं आपको यह क्यों बता रहा हूँ

मैं यहाँ सावधान रहना चाहता हूँ। मैं आपको गोवा के धर्म-न्यायालय के बारे में इसलिए नहीं बता रहा कि आप ईसाई धर्म या ईसाइयों से नफ़रत करने लगें। आज के ज़्यादातर ईसाई, ज़्यादातर कैथोलिक गोवावासियों समेत, इस अदालत के किए से ख़ुद सिहर उठेंगे। आज का कैथोलिक चर्च इस धर्म-न्यायालय के लिए

आधिकारिक रूप से माफ़ी माँग चुका है। पोप जॉन पॉल द्वितीय ने 2000 में, अपना धर्म फैलाने के लिए चर्च के ऐतिहासिक हिंसा-इस्तेमाल पर औपचारिक माफ़ी जारी की थी।

पर मैं आपको यह इसलिए बता रहा हूँ क्योंकि ज़्यादातर लोग नहीं जानते कि ऐसा हुआ था। वे यूरोप के स्पेनी धर्म-न्यायालय के बारे में जानते हैं। उन्होंने धर्मयुद्धों के बारे में सुना है। पर गोवा का धर्म-न्यायालय, जो स्पेनी से ज़्यादा लंबा चला और दलील दी जा सकती है कि ज़्यादा निर्मम था, मानक विश्व-इतिहास में मुश्किल से ज़िक्र पाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि मानक विश्व-इतिहास लिखने वाले ज़्यादातर पश्चिमी नज़रिए से आते हैं, और गोवा का धर्म-न्यायालय इस कहानी में फ़िट नहीं बैठता कि यूरोपीय सभ्यता दुनिया में एक नैतिक ताक़त थी।

असली इतिहास हमसे माँग करता है कि हम वे हिस्से भी याद रखें जो लोगों को असहज करते हैं — ख़ुद हमें भी। जो ईसाई यूरोपीय एशिया आए, वे उसी लालच और कट्टरता के मेल के साथ आए जो मुस्लिम हमलावर उत्तर-पश्चिम से लाए थे। दोनों एक ही बुनियादी काम कर रहे थे — दौलत निचोड़ना और लोगों को एक ऐसे धर्म में बदलना जिसे वे श्रेष्ठ मानते थे। दोनों धर्म बदलवाने में कामयाब होने से कहीं ज़्यादा नाकाम रहे।

डच, फ़्रांसीसी और अंग्रेज़ आते हैं

एशिया के व्यापार पर पुर्तगाली इजारेदारी ज़्यादा देर नहीं टिकी। 1500 के दशक के आख़िर तक, दूसरी यूरोपीय ताक़तें जलने लगीं। डच 1590 के दशक में इस व्यापार में घुस आए। उनकी डच ईस्ट इंडिया कंपनी, जो 1602 में बनी, इतिहास की पहली बड़ी सार्वजनिक रूप से शेयरों में बँटी कंपनी थी, और सबसे निर्मम कंपनियों में से एक। उन्होंने पुर्तगालियों को उनकी ज़्यादातर एशियाई व्यापार-चौकियों से बाहर धकेल दिया।

फ़्रांसीसी 1660 के दशक में अपनी ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ आए। अंग्रेज़ों ने अपनी ईस्ट इंडिया कंपनी 1600 में बनाई। लगभग 150 साल तक, ये यूरोपीय ताक़तें भारत में व्यापार के अधिकारों के लिए आपस में होड़ करती रहीं। उन्होंने भारतीय तट पर अलग-अलग जगहों पर क़िलेबंद व्यापार-चौकियाँ बनाईं, जिन्हें "फ़ैक्टरी" कहते थे। पुर्तगालियों के पास गोवा था। डच के पास पुलिकट और बाद में नागापट्टनम। फ़्रांसीसियों के पास पांडिचेरी। अंग्रेज़ों के पास सूरत, मद्रास, बंबई और कलकत्ता।

ये सारे यूरोपीय मोटे तौर पर एक ही काम कर रहे थे। वे भारतीय माल — ज़्यादातर सूती कपड़ा, मसाले, नील की रंगाई, और शोरा (बारूद बनाने में काम आता था) — ख़रीद रहे थे, और यूरोप में भारी मुनाफ़े पर बेच रहे थे। बदले में भारत यूरोप से बहुत कम ख़रीद रहा था, क्योंकि यूरोपीय ऐसा कुछ नहीं बनाते थे जो भारतीय वाजिब दाम पर चाहते। तो यूरोपियों को चाँदी की सिल्लियों में चुकाना पड़ता था। इस दौर में भारत में बहती चाँदी की मात्रा बहुत बड़ी थी। भारत वह जगह था जहाँ दुनिया की चाँदी जाकर ग़ायब हो जाती थी।

यूरोपीय कंपनियों के बीच युद्ध

1740 और 1750 के दशकों में, यूरोपीय कंपनियों की होड़ खुले युद्ध में बदल गई। यह ब्रिटेन और फ़्रांस के बीच की बड़ी वैश्विक प्रतिद्वंद्विता का हिस्सा था। भारत में, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी और फ़्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी ने युद्धों की एक कतार लड़ी, जिन्हें "कर्नाटक युद्ध" कहते हैं, ज़्यादातर दक्षिण भारत में।

ये युद्ध अहम हैं क्योंकि इन्होंने भारत में कुछ नया लाया। अंग्रेज़ों और फ़्रांसीसियों — दोनों ने भारतीय सिपाहियों की भर्ती शुरू की, जिन्हें यूरोपीय सैन्य तरीक़ों में प्रशिक्षित किया जाता और यूरोपीय हथियारों से लैस किया जाता था। इन सिपाही-फ़ौजों को नियमित तनख़्वाह मिलती, रोज़ कवायद होती, और आधुनिक रणनीति इस्तेमाल होती। ये पारंपरिक भारतीय फ़ौजों से ज़्यादा असरदार थीं, जो बड़ी तो होती थीं पर कम अनुशासित।

अंग्रेज़ों ने, रॉबर्ट क्लाइव नाम के एक चतुर सेनापति की अगुवाई में, आख़िरकार फ़्रांसीसियों को हरा दिया। 1750 के दशक के आख़िर तक, फ़्रांसीसी कुछ छोटे इलाक़ों तक सिमट गए। अंग्रेज़ भारत में सबसे बड़ी यूरोपीय ताक़त बन गए।

पर अंग्रेज़ सिर्फ़ फ़्रांसीसियों से ही नहीं लड़ रहे थे। वे भारतीय शासकों की राजनीति में भी ख़ुद को घुसाने लगे थे। उन्होंने कुछ से गठजोड़ किया, कुछ से लड़े, और धीरे-धीरे अपना इलाक़ा बढ़ाते गए। निर्णायक पल आया 1757 में, बंगाल के प्लासी नाम की जगह पर। वहीं अंग्रेज़ एक व्यापारी कंपनी से एक सरकार बन गए। यही अगले अध्याय की कहानी है।

XVII.

कंपनी: एक व्यापारी दफ़्तर एक सरकार कैसे बना

> **"ईस्ट इंडिया कंपनी" क्या थी?** यह कोई सरकार नहीं, बल्कि एक निजी कंपनी थी, जिसके मालिक लंदन में बैठे शेयरधारक (हिस्सेदार) थे। इसका मक़सद सिर्फ़ अपने मालिकों के लिए मुनाफ़ा कमाना था। फिर भी इसी कंपनी ने धीरे-धीरे पूरे भारत पर क़ब्ज़ा कर लिया और उस पर सौ साल राज किया।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी मानव-इतिहास के सबसे अजीब संगठनों में से एक है। यह एक निजी, शेयरों में बँटी कंपनी थी, जिसके मालिक लंदन के शेयरधारक थे। इसका मक़सद उन शेयरधारकों के लिए पैसा कमाना था। इसका कोई औपचारिक सरकारी काम नहीं था। फिर भी, लगभग 100 साल के अरसे में, इस निजी कंपनी ने एक पूरे उपमहाद्वीप पर क़ब्ज़ा कर लिया और अपने शेयरधारकों के फ़ायदे के लिए उस पर राज किया। 1820 तक, कंपनी लगभग 10 करोड़ लोगों पर शासन कर रही थी। 1857 तक, जब आख़िरकार ब्रिटिश सरकार ने ख़ुद कमान सँभाली, कंपनी एक सदी से भारत पर राज कर चुकी थी।

यह कैसे हुआ? यह आधुनिक इतिहास के सबसे अहम सवालों में से एक है। इतिहासकार विलियम डेलरिम्पल अपनी 2019 की किताब *द एनार्की* में तर्क देते हैं कि कंपनी का उभार दरअसल कॉर्पोरेट ताक़त के हद से बाहर बढ़ जाने का पहला बड़ा उदाहरण है — एक कंपनी का किसी राज्य जितना ताक़तवर बन जाना। यह कहानी विस्तार से समझने लायक़ है।

प्लासी की लड़ाई, 1757

निर्णायक पल था प्लासी की लड़ाई, जो 23 जून, 1757 को बंगाल में भागीरथी नदी के पास एक आम के बाग़ में लड़ी गई। एक तरफ़ ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की लगभग 3,000 आदमियों की छोटी फ़ौज थी, ज़्यादातर भारतीय सिपाही, जिसकी कमान रॉबर्ट क्लाइव के हाथ थी। दूसरी तरफ़ बंगाल के नौजवान नवाब सिराज-उद-दौला की फ़ौज थी, लगभग 50,000 आदमियों के साथ, जिसमें फ़्रांसीसी तोपख़ाने की मदद भी थी।

काग़ज़ पर, यह एक क़त्लेआम होना चाहिए था। अंग्रेज़ पंद्रह-एक से भी ज़्यादा कम थे। पर क्लाइव ने सिपाही जुटाने से ज़्यादा अहम कुछ किया था। उसने एक ग़द्दार ख़रीद लिया था।

लड़ाई से पहले, क्लाइव ने नवाब की फ़ौज के सबसे बड़े हिस्से के सेनापति मीर जाफ़र से चुपके से सौदा कर लिया था। उसने मीर जाफ़र को बंगाल की गद्दी देने का प्रस्ताव दिया, बशर्ते मीर जाफ़र की फ़ौज बस लड़ने से इनकार कर दे। मीर जाफ़र मान गया। जब लड़ाई शुरू हुई, नवाब की दो-तिहाई फ़ौज खड़ी देखती रही जबकि बाक़ी लड़ी। कंपनी की फ़ौज आसानी से जीत गई। सिराज-उद-दौला पकड़ा गया और मीर जाफ़र के बेटे ने उसे मरवा दिया। मीर जाफ़र को गद्दी पर बिठा दिया गया।

यह अहम है। अंग्रेज़ प्लासी बेहतर सिपाही होने की वजह से नहीं जीते। वे भारतीय कुलीन-वर्ग के अंदर की फूट का फ़ायदा उठाकर, वफ़ादारी ख़रीदकर, और सब्र रखकर जीते। असली लड़ाई मामूली थी। मरने वाले कम थे। पर राजनीतिक नतीजे बहुत बड़े थे। अब ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ भारत के सबसे अमीर सूबे में एक कठपुतली शासक था।

प्लासी से पहले बंगाल कैसा था

प्लासी के बाद क्या हुआ, इस पर बात करने से पहले, मैं आपको बता दूँ कि बंगाल कैसा था। 1757 का बंगाल दुनिया के सबसे अमीर सूबों में से एक था। दुनिया भर में बनने वाले कुल कपड़े का लगभग 12 प्रतिशत यह बनाता था। यह अपने मलमल के लिए मशहूर था — इतना महीन सूती कपड़ा कि एक पूरी साड़ी एक अँगूठी में से निकल जाती। बंगाली बुनकरों ने यह हुनर सदियों में विकसित किया था। बंगाल भारी मात्रा में रेशम, नील, चीनी, नमक और अनाज भी पैदा करता था। ख़ुद रॉबर्ट क्लाइव के मुताबिक़, उसकी राजधानी मुर्शिदाबाद लंदन जितनी अमीर थी।

1757 में अकेले बंगाल का कर-राजस्व सालाना लगभग 40 लाख पाउंड स्टर्लिंग आँका गया था, जो एक विशाल रक़म थी। तुलना के लिए — उस वक़्त पूरी ब्रिटिश सरकार का कर-राजस्व लगभग 80 लाख पाउंड था। यानी एक अकेली निजी कंपनी के क़ब्ज़े में आया बंगाल का राजस्व, पूरी ब्रिटिश सरकार के राजस्व का लगभग आधा था। यह दौलत बंगाल में नहीं रहने वाली थी।

बंगाल की लूट: पहली लूट

प्लासी के बाद, कंपनी ने मीर जाफ़र को गद्दी पर बिठाने के बदले उससे भारी रक़में माँगीं। इतिहासकार पी. जे. मार्शल ने हिसाब लगाया है कि 1757 और 1765 के बीच, मीर जाफ़र और उसके उत्तराधिकारियों ने कंपनी अधिकारियों को लगभग 57 लाख पाउंड निजी तोहफ़ों में चुकाए, और 22 लाख और ख़र्चों के मुआवज़े में। ये कंपनी के आदमियों को दी गई व्यक्तिगत रिश्वतें थीं, सरकारी राजस्व नहीं। ख़ुद रॉबर्ट क्लाइव ने मीर जाफ़र से, आज के पैसे में लगभग 3 करोड़ पाउंड के बराबर, निजी तोहफ़े लिए।

यह आम मायने वाला भ्रष्टाचार नहीं था। क्लाइव इसे जीत का जायज़ माल समझता था। जब बाद में संसद ने उससे इस पर सवाल किया, तो उसने एक मशहूर जवाब दिया।

> *“ज़रा उस हालत पर ग़ौर कीजिए जिसमें प्लासी की जीत ने मुझे रखा। एक बड़ा राजकुमार मेरी मर्ज़ी पर निर्भर था। एक मालामाल शहर मेरी दया पर पड़ा था। उसके सबसे अमीर बैंकर मेरी मुस्कान पाने के लिए एक-दूसरे से बोली लगा रहे थे। श्रीमान सभापति, इस पल मैं अपने ही संयम पर हैरान खड़ा हूँ।”*
>
> *— रॉबर्ट क्लाइव, हाउस ऑफ़ कॉमन्स में गवाही, 1772*

अपने ही संयम पर। क्लाइव ने वह लिया जो आज करोड़ों पाउंड होता, और वह अपने ही संयम पर हैरान था, क्योंकि वह और भी ले सकता था। यह आपको मानसिकता बता देता है। भारत में कंपनी के आदमी ख़ुद को विजेता मानते थे, जो निचोड़ी हुई दौलत के हक़दार थे। वे ब्रिटिश बसने वालों के लिए कोई उपनिवेश नहीं बना रहे थे। वे एक निचोड़-व्यवस्था चला रहे थे।

बंगाल की दीवानी, 1765

1764 में, कंपनी ने बक्सर की लड़ाई में भारतीय ताक़तों के एक गठजोड़ को हराया। यह जीत प्लासी से ज़्यादा अहम थी, क्योंकि इसने कंपनी को तीनों पूर्वी सूबों — बंगाल, बिहार और ओडिशा — पर नियंत्रण दे दिया। इन तीनों सूबों की कुल आबादी लगभग 3 करोड़ थी, जो उस वक़्त के ब्रिटेन से भी ज़्यादा थी।

अगस्त 1765 में, मुग़ल बादशाह शाह आलम द्वितीय — जो काग़ज़ी तौर पर अब भी पूरे भारत का सर्वोच्च माना जाता था, भले ही उसकी असली ताक़त बहुत छोटी थी — ने कंपनी के साथ एक संधि पर दस्तख़त किए। संधि ने कंपनी को इन सूबों की "दीवानी" दे दी। दीवानी का मतलब था कर वसूलने का अधिकार। इस पल से, एक निजी ब्रिटिश कंपनी को 3 करोड़ भारतीयों पर कर लगाने का क़ानूनी अधिकार मिल गया।

मैं इसे फिर से कहता हूँ। एक निजी कंपनी। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी। ब्रिटिश सरकार नहीं। आधिकारिक तौर पर ब्रिटिश राजगद्दी भी नहीं। एक कंपनी। जिसके मालिक लंदन के शेयरधारक थे। को 3 करोड़ लोगों पर कर लगाने का अधिकार मिल गया। कल्पना कीजिए कि आज भारत सरकार किसी बड़ी कंपनी को सारे भारतीयों पर कर लगाने का अधिकार दे दे। मोटे तौर पर हम इसी स्तर की अजीब बात कर रहे हैं।

एक बार कंपनी के पास कर लगाने की ताक़त आ गई, तो उसे भारतीय माल ख़रीदने के लिए यूरोप से चाँदी लाने की ज़रूरत ही नहीं रही। वह बस भारतीय कर का पैसा भारतीय माल ख़रीदने में लगा सकती थी, और फिर वह माल यूरोप में भारी मुनाफ़े पर बेच सकती थी। यह औपनिवेशिक निचोड़ के सबसे अहम "नवाचारों" में से एक है, और इसने वैश्विक अर्थव्यवस्था बदल दी।

1770 का बंगाल अकाल

कंपनी के बंगाल की कर-व्यवस्था सँभालने के पाँच साल बाद, सदियों का सबसे बुरा अकाल इस इलाक़े में पड़ा। 1769 में मानसून की बारिश नहीं हुई। फ़सलें मारी गईं। लोग भूखे मरने लगे।

सामान्य समय में, मुग़ल और नवाबी सरकारें अकाल के जवाब में कर घटा या रोक देतीं, सरकारी अनाज-भंडार खोल देतीं, और राहत का इंतज़ाम करतीं। कंपनी ने इसका उलटा किया। कंपनी ने अकाल के दौरान असल में कर बढ़ा दिए। कंपनी अधिकारियों ने दाम चढ़ाने के लिए अनाज जमा कर लिया। कुछ कंपनी आदमियों ने भूखे, बेबस लोगों को बेहद बढ़े दामों पर चावल बेचकर निजी दौलत बना ली। कर-वसूली उन गाँवों से भी बंदूक़ की नोक पर जारी रही जहाँ ज़्यादातर आबादी मर रही थी।

आधुनिक अनुमान बताते हैं कि 1770 के बंगाल अकाल में लगभग 1 करोड़ लोग मरे। यह बंगाल की लगभग एक-तिहाई आबादी थी। यह, उस वक़्त, दर्ज मानव-इतिहास का सबसे बुरा अकाल था। और यह सूखे से पैदा हुआ था, पर कंपनी की आर्थिक नीतियों ने इसे प्रलय बना दिया।

इतिहासकार विलियम डेलरिम्पल, समकालीन स्रोतों के हवाले से, *द एनार्की* में हालात को रोंगटे खड़े कर देने वाले ब्योरे से बताते हैं। कलकत्ता शरणार्थियों से भर गया। सड़कों पर लाशों के ढेर लग गए। लोगों ने अपने बच्चे बेच दिए। नरभक्षण की ख़बरें आईं। और इस सब के बीच, कंपनी बंगाल से चावल अपने व्यापारिक साम्राज्य के दूसरे हिस्सों को निर्यात करती रही। अकाल के साल कंपनी का मुनाफ़ा असल में बढ़ गया।

> *“1770 का बंगाल अकाल कुछ हद तक सूखे से आई तबाही थी, पर एक विदेशी कंपनी के लालच ने, जिसने मुनाफ़े को सबसे ऊपर रखा, इसे एक संहार में बदल दिया।”*
>
> *— विलियम डेलरिम्पल, द एनार्की, 2019*

अकाल ने थोड़े समय के लिए ब्रिटिश जनता को झकझोरा। संसद में बहसें हुईं। यह सवाल उठा कि क्या किसी निजी कंपनी को कोई देश चलाना चाहिए। पर आख़िरकार कंपनी बची रही, और उसकी ताक़त बढ़ती भी गई। भारतीय दौलत से ब्रिटिश शेयरधारकों को अमीर बनाना, और फ़सल मारी जाने पर भारतीयों को मरने देना — यह ढर्रा अगले 180 साल कई-कई बार दोहराया गया।

कंपनी-राज, 1765 से 1857

अगले 90 साल में, कंपनी ने सैन्य विजय, संधियाँ करने, और दिवालिया भारतीय राज्यों को हड़पने के मेल से अपना राज ज़्यादातर भारत में फैला दिया। 1820 तक, मराठों को तीन युद्धों में हराने के बाद, कंपनी कृष्णा नदी के उत्तर के लगभग पूरे भारत पर क़ाबिज़ थी। 1849 तक, पंजाब की विजय के बाद, कंपनी लगभग पूरे उपमहाद्वीप पर क़ाबिज़ थी।

कंपनी, असल में, भारत की सरकार बन गई। वह कर वसूलती थी। वह क़ानून लागू करती थी। वह लगभग 2,50,000 आदमियों की फ़ौज रखती थी, ज़्यादातर भारतीय सिपाही। वह अपनी डाक-सेवा, अपनी अदालतें, चीन के साथ अपना अफ़ीम-व्यापार चलाती थी। उसने 1850 के दशक में पहली भारतीय रेलें बनाईं। उसने अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूल खोले।

यह सब भारतीय करों से चुकाया जाता था, पर इसका हिसाब भारतीयों को नहीं, बल्कि लंदन के कंपनी-शेयरधारकों को देना होता था। मुनाफ़ा ब्रिटेन जाता था। प्रशासन का ख़र्च भारतीय उठाते थे।

यही वह व्यवस्था है जिसका अर्थशास्त्री उत्सा पटनायक ने अपना पूरा करियर विश्लेषण किया है। हम अगले अध्याय में उनके आँकड़े देखेंगे, जब हम पूछेंगे कि इस दौर में भारत से ठीक-ठीक कितनी दौलत निचोड़ी गई, और इसका भारत तथा ब्रिटेन — दोनों के लिए क्या मतलब था।

XVIII.

महान धन-निकासी: भारत को ग़रीब बनाकर ब्रिटेन अमीर कैसे बना

यह अध्याय पैसे के बारे में है। कोई हवाई पैसा नहीं। असली पैसा। पाउंड, रुपये, और मानव-इतिहास में दो देशों के बीच दौलत का सबसे बड़ा हस्तांतरण।

मैं आपको असली आँकड़े दूँगा। मैंने ध्यान रखा है कि गंभीर अकादमिक अर्थशास्त्रियों के आँकड़े इस्तेमाल करूँ, इंटरनेट के स्रोत नहीं — क्योंकि इस विषय पर ख़ूब विवाद है और दोनों तरफ़ के लोग बढ़ा-चढ़ाकर बोलते हैं।

"धन-निकासी" का सिद्धांत

> **"धन-निकासी" (द ड्रेन) क्या है?** इसका मतलब है — भारत की दौलत हर साल बिना उचित बदले के, चुपके-चुपके ब्रिटेन की ओर बहती रहना। जैसे एक टंकी में लगातार छेद हो, जिससे पानी रिसता रहे। यह ख़ुली डकैती नहीं थी; यह कर, तनख़्वाहों, ब्याज और हिसाब की चालों के ज़रिए होती थी।

सबसे पहले व्यवस्थित ढंग से यह तर्क देने वाला कि ब्रिटेन भारत की दौलत निचोड़ रहा है, एक भारतीय था — दादाभाई नौरोजी। वह एक शानदार विद्वान, कारोबारी और राजनेता थे, जो 1825 से 1917 तक जीए। उन्होंने दशकों आर्थिक आँकड़े जुटाए और अपने निष्कर्ष 1901 में छपी एक मशहूर किताब *पॉवर्टी एंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया* में रखे।

नौरोजी का तर्क सीधा पर तबाह कर देने वाला था। उन्होंने दिखाया कि भारत हर साल भारी मात्रा में दौलत ब्रिटेन भेज रहा था, इन रूपों में:

- ब्रिटिश अधिकारियों, सिपाहियों और इंजीनियरों को दी जाने वाली तनख़्वाहें और पेंशन, जो भारतीय कर से ली जाकर पाउंड में इंग्लैंड भेजी जातीं
- उन क़र्ज़ों पर ब्याज, जो अंग्रेज़ों ने ब्रिटिश युद्धों और परियोजनाओं के लिए भारत से ज़बरन लिवाए
- भारत में काम करती ब्रिटिश कंपनियों का मुनाफ़ा, जो ब्रिटिश शेयरधारकों को वापस भेजा जाता
- "होम चार्जेस" का ख़र्च — लंदन के इंडिया ऑफ़िस का बजट — जो भारतीय करदाताओं पर डाला जाता, जबकि भारतीयों की उसमें कोई बात नहीं चलती थी
- भारतीय माल की ख़रीद, जिसका दाम असली पैसे में नहीं, बल्कि "काउंसिल बिल" में चुकाया जाता — एक तरह की मुद्रा-चाल, जिस पर हम अभी बात करेंगे

नौरोजी ने इसे "द ड्रेन" यानी धन-निकासी कहा। उन्होंने अंदाज़ा लगाया कि 1800 के दशक के आख़िर तक हर साल भारत से लगभग 3 से 4 करोड़ पाउंड निचोड़े जा रहे थे। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने, बेहतर आँकड़ों और कंप्यूटरों के साथ, उनके अनुमान निखारे हैं और मूल तर्क की काफ़ी हद तक पुष्टि की है।

उत्सा पटनायक के आधुनिक अनुमान

इस विषय की प्रमुख आधुनिक विद्वान उत्सा पटनायक हैं, जो दिल्ली की जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी में अर्थशास्त्री हैं। उन्होंने 40 साल से ज़्यादा औपनिवेशिक भारत की अर्थव्यवस्था का अध्ययन किया है। 2018 में कोलंबिया यूनिवर्सिटी की एक श्रृंखला में छपे एक शोध-पत्र में, उन्होंने कुल धन-निकासी का अब तक का सबसे सावधान हिसाब लगाया।

पटनायक ने हिसाब लगाया कि 1765 (जब कंपनी को बंगाल की दीवानी मिली) और 1938 (आज़ादी से ठीक पहले) के बीच, ब्रिटेन ने भारत से आज के पैसे में कुल लगभग 45 ट्रिलियन (पैंतालीस लाख करोड़) अमेरिकी डॉलर निचोड़े। जी हाँ, ट्रिलियन। पैंतालीस ट्रिलियन डॉलर।

इसे समझने के लिए — 2024 में पूरे अमेरिका की जीडीपी लगभग 28 ट्रिलियन डॉलर थी। यानी पटनायक का धन-निकासी का अनुमान मोटे तौर पर आज के पूरे अमेरिका के एक साल के कुल आर्थिक उत्पादन के बराबर है, जो 173 साल के अरसे में भारत से ब्रिटेन हस्तांतरित हुआ।

> **"जीडीपी" क्या है?** किसी देश में एक साल में बनी सारी चीज़ों और सेवाओं की कुल क़ीमत — यानी अर्थव्यवस्था कितनी बड़ी है, इसे नापने का तरीक़ा।

पटनायक का आँकड़ा अनुमानों के ऊँचे सिरे पर है। दूसरे अर्थशास्त्री कम आँकड़े देते हैं। मसलन, इतिहासकार तीर्थंकर रॉय अपनी 2019 की किताब *हाउ ब्रिटिश रूल चेंज्ड इंडियाज़ इकॉनमी* में तर्क देते हैं कि पटनायक कुछ ऐसी चीज़ें जोड़कर धन-निकासी को बढ़ा-चढ़ाकर बताती हैं जिन्हें उनके हिसाब से नहीं गिनना चाहिए। वे एक छोटा पर फिर भी बड़ा अनुमान देते हैं। ठीक-ठीक आँकड़े पर बहस है। पर यह बुनियादी तथ्य कि भारी मात्रा में दौलत भारत से ब्रिटेन गई, किसी भी गंभीर अर्थशास्त्री को मंज़ूर है।

> *"यह तय है कि धन-निकासी हुई। बहस सिर्फ़ इसके आकार पर है। और किसी भी गंभीर हिसाब से, यह आधुनिक इतिहास में दो देशों के बीच का सबसे बड़ा लगातार दौलत-हस्तांतरण था।"*
>
> *— शशि थरूर, इनग्लोरियस एम्पायर, 2017*

काउंसिल बिल वाली चाल

आइए, मैं एक ख़ास तरीक़ा समझाऊँ, क्योंकि वह इतना चालाक और इतना निर्मम है कि अपने अलग हिस्से का हक़दार है — काउंसिल बिल व्यवस्था।

लगभग 1870 के बाद ब्रिटिश भारतीय माल का निर्यात ऐसे करते थे। लंदन का कोई ब्रिटिश ख़रीदार भारतीय कपास या जूट या चाय ख़रीदना चाहता। वह लंदन के "इंडिया ऑफ़िस" नाम के ब्रिटिश सरकारी दफ़्तर जाता। इंडिया ऑफ़िस उसे एक "काउंसिल बिल" बेच देता — असल में एक काग़ज़ी पर्ची जिस पर लिखा

होता "वाहक को इतने भारतीय रुपये दीजिए, भारत में देय।" ब्रिटिश ख़रीदार इस बिल का दाम पाउंड में चुकाता।

फिर ब्रिटिश ख़रीदार वह काउंसिल बिल भारत भेज देता। वहाँ, ख़रीदार के एजेंट उस बिल को किसी भी सरकारी दफ़्तर में भारत सरकार के ख़ज़ाने से रुपयों में बदल लेते। उन रुपयों से वे भारतीय उत्पादकों से भारतीय माल ख़रीद लेते।

ग़ौर कीजिए क्या हुआ। भारतीय उत्पादक को रुपयों में पैसा मिला। ब्रिटिश ख़रीदार ने पाउंड में चुकाया। वे पाउंड कहाँ गए? वे लंदन में ही रह गए। वे कभी भारत आए ही नहीं। भारत सरकार ने बस अपने ही ख़ज़ाने से रुपये निकालकर सौदा निपटा दिया। यानी असल में भारतीय करदाता ही उन भारतीय उत्पादकों को पैसा दे रहे थे, उस माल के लिए जो अंग्रेज़ ले जा रहे थे। ब्रिटेन ने ब्रिटेन को चुकाया। भारत ने भारत को चुकाया। माल ब्रिटेन को मिल गया।

यह कोई रूपक नहीं है। व्यवस्था ठीक ऐसे ही चलती थी। ब्रिटिश ख़रीदारों के चुकाए पाउंड ब्रिटिश सरकार के भंडार का हिस्सा बन जाते। उत्पादकों को मिले भारतीय रुपये उन करों से निकलते जो भारतीय पहले ही चुका चुके थे। यह एक शानदार हिसाबी चाल थी, जो भारत की निर्यात-कमाई को भारतीयों पर ही एक कर में बदल देती थी, जबकि काग़ज़ पर ऐसा दिखता कि ब्रिटेन जो ख़रीद रहा है उसका दाम चुका रहा है।

उद्योगों का विनाश

आर्थिक धन-निकासी के अलावा, औद्योगिक तबाही भी हुई। 1700 में, भारत शायद दुनिया का सबसे बड़ा बने-बनाए माल का निर्यातक था, ख़ास तौर पर कपड़े का। भारतीय सूती कपड़ा पूरे अफ़्रीका, मध्य-पूर्व और यूरोप में बिकता था। बंगाली मलमल एक विलासिता का सामान था। भारतीय कारीगरों के पास सदियों में विकसित किए हुनर थे।

ब्रिटिश नीति ने यह सब व्यवस्थित ढंग से तबाह किया। इसके दो मुख्य तरीक़े थे।

पहला, आयात-कर (टैरिफ़)। ब्रिटेन में आने वाले भारतीय कपड़े पर 70 से 80 प्रतिशत कर लगता, कभी इससे भी ज़्यादा, जिससे वह ब्रिटेन में बिकने लायक़ नहीं रहता। भारत में आने वाले ब्रिटिश कपड़े पर सिर्फ़ 2 से 4 प्रतिशत कर लगता, जिससे वह भारत में सस्ता बिकता। यह उसका उल्टा था जो ऐडम स्मिथ और मुक्त-व्यापार के अर्थशास्त्री बताते। ब्रिटिश सरकार भारत के मामले में मुक्त-व्यापार में यक़ीन नहीं रखती थी। वह धाँधली वाले व्यापार में यक़ीन रखती थी।

दूसरा, भारतीय उत्पादन-क्षमता का जान-बूझकर विनाश। ऐसी ख़बरें हैं कि ब्रिटिश अधिकारी भारतीय बुनकरों के अँगूठे काट देते थे ताकि वे काम न कर सकें। आज इतिहासकार इन ख़बरों पर बहस करते हैं, कुछ कहते हैं ये बढ़ा-चढ़ाकर हो सकती हैं। जिस पर बहस नहीं है वह यह है कि ब्रिटिश नियमों ने भारतीय बुनकरों को मजबूर किया कि वे अपना कपड़ा सिर्फ़ ईस्ट इंडिया कंपनी को, तय किए कम दामों पर बेचें, और दूसरों को बेचने पर रोक लगा दी। भागने की कोशिश करने वाले बुनकर पकड़कर वापस लाए जाते। उनके काम के हालात बेगार जैसे थे।

नतीजा यह कि भारतीय कपड़ा-उत्पादन ढह गया। 1850 तक, ब्रिटेन भारत को उससे ज़्यादा सूती सामान निर्यात कर रहा था जितना भारत ब्रिटेन को। भारत ब्रिटिश माल का बाज़ार बन गया, उत्पादक नहीं रहा। दुनिया के विनिर्माण में भारत का हिस्सा 1750 के लगभग 25 प्रतिशत से गिरकर 1900 में लगभग 2 प्रतिशत रह गया। उसी अरसे में ब्रिटेन का हिस्सा लगभग 2 प्रतिशत से बढ़कर लगभग 23 प्रतिशत हो गया। भारत ने सिर्फ़ अपना उद्योग नहीं खोया। ब्रिटेन ने असल में उसे चुरा लिया।

ब्रिटेन ने भारतीय पैसे का क्या किया

ब्रिटेन ने इस सारी दौलत का क्या किया? आर्थिक इतिहासकार स्वेन बेकर्ट ने अपनी 2014 की किताब *एम्पायर ऑफ़ कॉटन* में दिखाया है कि भारतीय दौलत ने ब्रिटिश औद्योगिक क्रांति को पैसा देने में बड़ी भूमिका निभाई। मैनचेस्टर और लंकाशायर के मशहूर शुरुआती ब्रिटिश उद्योगपति — कपड़ा-मिल मालिक — सस्ते में ख़रीदी भारतीय कच्ची कपास पर, अपना तैयार माल खपाने के लिए भारतीय बाज़ारों पर, और उस पूँजी पर निर्भर थे जो मूल रूप से भारतीय औपनिवेशिक मुनाफ़े से आई थी।

अंग्रेज़ों ने भारतीय पैसे से अपने युद्ध भी लड़े। भारतीय करों ने यूरोप में फ़्रांसीसियों के ख़िलाफ़, क्रीमिया में रूसियों के ख़िलाफ़, और दो विश्वयुद्धों में जर्मनों के ख़िलाफ़ लड़ती ब्रिटिश फ़ौजों का ख़र्च उठाया। भारत ने पहले विश्वयुद्ध में लड़ने के लिए लगभग 13 लाख सिपाही दिए, किसी भी दूसरे ब्रिटिश उपनिवेश से कहीं ज़्यादा। उनमें से लगभग 74,000 मारे गए। भारत को अपने ही सिपाहियों की तैनाती का ख़र्च उठाने पर मजबूर किया गया, जबकि ज़्यादातर भारतीयों की इसमें कोई बात नहीं चली कि युद्ध में जाएँ या नहीं।

दूसरे विश्वयुद्ध में, भारत फिर ख़ुद ब्रिटेन के बाहर ब्रिटिश युद्ध-प्रयास में सबसे बड़ा अकेला योगदान देने वाला था। 25 लाख से ज़्यादा भारतीयों ने ब्रिटिश भारतीय फ़ौज में सेवा दी, सब स्वयंसेवक, सबका ख़र्च भारतीय करों से। युद्ध ख़त्म होने पर ब्रिटेन भारत का लगभग 1.3 अरब पाउंड क़र्ज़दार था, जो आज के पैसे में लगभग 60 अरब पाउंड होगा। ब्रिटेन ने यह कभी नहीं चुकाया। इसे भारत की आज़ादी की बातचीत के हिस्से के तौर पर माफ़ कर दिया गया (बट्टे-खाते डाल दिया गया)।

जानों की क़ीमत

पर पैसा सबसे बुरा हिस्सा नहीं है। सबसे बुरा हिस्सा है जानें। भारत से दौलत की निकासी का एक सीधा, निर्मम नतीजा था। इसने अकालों को बदतर और ज़्यादा बार-बार बनाया। जब कर बहुत ऊँचे होते, जब सूखे में भी अनाज निर्यात हो रहा होता, जब औपनिवेशिक आर्थिक नीतियाँ स्थानीय खाद्य-व्यवस्थाएँ तोड़ देतीं, तो नतीजा बड़े पैमाने पर भुखमरी होता। हम अगला पूरा अध्याय अकालों को देंगे, क्योंकि वे अपने अलग बरताव के हक़दार हैं। पर फ़िलहाल, बस यह समझिए कि जिस दौलत ने विक्टोरियाई लंदन के हिस्से बनाए, उसकी क़ीमत करोड़ों भारतीय जानों में नापी गई।

भारतीय अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन, जिन्होंने 1998 में अर्थशास्त्र का नोबेल पुरस्कार जीता, ने अपने करियर का बड़ा हिस्सा अकालों के अध्ययन में लगाया। उनकी मूल समझ यह है कि अकाल लगभग कभी भी सिर्फ़ खाने की कमी से नहीं आते। वे इसलिए आते हैं कि लोग खाना ख़रीदने की क्षमता खो देते हैं, भले ही खाना मौजूद हो। और उस क्षमता का खोना लगभग हमेशा सत्ता में बैठे लोगों का राजनीतिक और आर्थिक चुनाव होता है। औपनिवेशिक भारत ने ऐसे कई चुनाव झेले।

1947 तक, जब अंग्रेज़ आख़िरकार गए, भारत 1700 में दुनिया का सबसे अमीर देश होने से बदलकर सबसे ग़रीब देशों में से एक बन चुका था। दुनिया की जीडीपी में उसका हिस्सा 24 प्रतिशत से गिरकर लगभग 4 प्रतिशत रह गया था। उसकी औसत उम्र 32 साल थी। उसकी साक्षरता दर 12 प्रतिशत थी। भारत जैसे इतिहास वाले देश के लिए ये सामान्य आँकड़े नहीं हैं। ये एक ऐसे देश के आँकड़े हैं जिसे दो सदियों तक व्यवस्थित ढंग से लूटा गया।

मैं आपको यह सब इसलिए दे रहा हूँ क्योंकि ज़्यादातर लोग, ज़्यादातर भारतीयों समेत, असल में नहीं जानते कि जो हुआ उसका पैमाना क्या था। अंग्रेज़ याद रखना पसंद करते हैं कि उन्होंने रेलें बनाईं और भारत को संसदीय व्यवस्था दी। ये चीज़ें असली हैं। पर ये ऐसे ही हैं जैसे कहना कि जिस चोर ने आपका घर लूटा और जला दिया, उसने कम-से-कम बाद में आपको कुछ माचिसें तो बेचीं। फ़ायदे, जो भी थे, क़ीमत के मुक़ाबले मामूली थे।

XIX.

अकाल: चार करोड़ मौतें

> **“अकाल” क्या है?** अकाल यानी किसी इलाक़े में खाने की इतनी भारी कमी कि लोग बड़े पैमाने पर भूख से मरने लगें। पर इस अध्याय की मुख्य बात यह है — ये अकाल अक्सर इसलिए जानलेवा बने क्योंकि अनाज मौजूद होते हुए भी, ब्रिटिश नीतियों ने उसे ग़रीबों तक नहीं पहुँचने दिया।

मैं ब्रिटिश भारत में हुए अकालों को एक पूरा अध्याय देना चाहता हूँ, क्योंकि औपनिवेशिक इतिहास का यही वह हिस्सा है जिसे ज़्यादातर लोग सीधे देखने से इनकार कर देते हैं। यह बहुत दर्दनाक है। आँकड़े बहुत बड़े हैं। क्रूरता बहुत ठंडी है। पर आप ब्रिटिश राज की असली क़ीमत समझ ही नहीं सकते, जब तक यह न समझें कि खाना कम पड़ने पर क्या हुआ।

कितने मरे?

इतिहासकार माइक डेविस ने अपनी 2001 की किताब *लेट विक्टोरियन होलोकॉस्ट्स* में, औपनिवेशिक अकालों में हुई मौतों का शायद सबसे सावधान विश्लेषण किया। उन्होंने ज़्यादातर 1800 के दशक के आख़िर पर ध्यान दिया। उन्होंने सिर्फ़ वे अकाल गिने जो अच्छी तरह दर्ज हैं, और हर स्रोत से सबसे सतर्क (कम वाले) अनुमान लिए। ब्रिटिश राज में अकालों से हुई “अतिरिक्त मौतों” का उनका कुल जोड़ लगभग 3 से 3.5 करोड़ लोग था।

दूसरे इतिहासकारों ने, जिनमें भारतीय अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन और अमेरिकी इतिहासकार मधुश्री मुखर्जी शामिल हैं, गिनती के तरीक़े के हिसाब से 2.5 करोड़ से 6 करोड़ तक के अनुमान दिए हैं। जिस पर बहस नहीं है वह यह है कि संख्या करोड़ों में है। आप जो भी सबसे सतर्क आँकड़ा चुनें, पैमाना दिल दहला देने वाला है। तुलना के लिए — होलोकॉस्ट में लगभग 60 लाख यहूदी मारे गए। ब्रिटिश भारत के अकालों ने उससे पाँच से दस गुना ज़्यादा लोग मारे।

आइए, बड़े अकालों को एक-एक करके देखें, ताकि आप समझें कि हम असल में किस बात पर बात कर रहे हैं।

1770 का बंगाल अकाल: 1 करोड़ मरे

मैं इसका ज़िक्र सत्रहवें अध्याय में कर चुका हूँ। कंपनी-राज का पहला बड़ा अकाल। लगभग 1 करोड़ लोग मरे, मोटे तौर पर बंगाल की एक-तिहाई आबादी। अकाल सूखे से आया, पर कंपनी की नीति ने इसे संहार बना दिया। अकाल के दौरान कर बढ़ाए गए। अनाज जमा कर लिया गया। मरते गाँवों से बंदूक़ की नोक पर कर-

वसूली जारी रही। कंपनी अधिकारियों ने बेबस ख़रीदारों को चावल बेचकर निजी दौलत बनाई। अकाल के दौरान कंपनी का सालाना मुनाफ़ा असल में बढ़ गया।

रेवरेंड जॉन शोर, एक वरिष्ठ कंपनी अधिकारी जो बाद में गवर्नर जनरल बना, ने अकाल पर एक कविता लिखी जिसमें ये पंक्तियाँ थीं — "फिर भी दुबला अभागा गिड़गिड़ाता रहा, फिर भी मौत ने उसे नकारा। मरता हुआ ज़ोर से कराहा, बग़ल में पड़े मुर्दे के साथ।" कभी-कभी ख़ुद कंपनी के आदमी भी जो देखते उससे सिहर उठते। पर व्यवस्था चलती रही।

1876 से 1878 का मद्रास अकाल: 55 लाख मरे

लगभग ठीक 100 साल बाद, दक्षिण भारत के मद्रास प्रांत में एक अकाल पड़ा। 1876 और 1877 में मानसून नहीं आया। लगभग 55 लाख लोग मरे, एक ऐसे इलाक़े में जिसकी आबादी लगभग 3.8 करोड़ थी।

इस वक़्त तक, भारत के पास एक "अकाल संहिता" थी, जो माना जाता था कि तय करती है कि ब्रिटिश सरकार को कैसे जवाब देना चाहिए। जवाब नाममात्र का था। उस वक़्त भारत का वायसराय (सबसे बड़ा ब्रिटिश अधिकारी) लॉर्ड लिटन था। अकाल पर लॉर्ड लिटन का जवाब बदनाम हो चुका है।

> **"वायसराय" कौन था?** वायसराय भारत में ब्रिटिश राजगद्दी का प्रतिनिधि और सबसे बड़ा अधिकारी होता था — मानो ब्रिटिश राजा/रानी की ओर से भारत का सर्वोच्च शासक।

पहला, लिटन ने अकाल के दौरान भारत से अनाज का निर्यात जारी रखा। 1877 और 1878 में, जब लाखों भारतीय भूखे मर रहे थे, भारत ने रिकॉर्ड 64 लाख टन गेहूँ निर्यात किया। इसे फिर से पढ़िए। भारत ने एक ऐसे अकाल के दौरान रिकॉर्ड मात्रा में गेहूँ निर्यात किया जिसमें लाखों भारतीय भूख से मर गए। अनाज ब्रिटेन भेजा गया, जहाँ इसने ब्रिटिश मज़दूरों के लिए रोटी के दाम नीचे रखे। उसमें से कुछ बंदरगाह के गोदामों में जला दिया गया जब दाम गिरे।

दूसरा, लिटन ने अकाल-राहत शिविर बनाए जहाँ भूखे लोग खाना पा सकते थे। पर इन शिविरों में राशन कड़ी मेहनत करते वयस्कों के लिए रोज़ 450 ग्राम चावल तय था। यह उन क़ैदियों को दिए राशन से भी कम था जो नाज़ी यातना-शिविर बुख़नवाल्ड में रखे जाते थे, जो लगभग 1,200 से 1,500 कैलोरी था। मद्रास अकाल-शिविर का राशन हाथ की मेहनत करते वयस्कों के लिए कम-से-कम लगभग 1,200 कैलोरी था। शिविरों में बहुत-से लोग आधिकारिक रूप से राहत पाते हुए भी भूख से मर गए।

तीसरा, लिटन ने जनवरी 1877 में दिल्ली में रानी विक्टोरिया को "भारत की महारानी" घोषित करने के लिए एक भारी-भरकम जलसा आयोजित किया। बताया जाता है कि इस जलसे पर लाखों पाउंड ख़र्च हुए और यह एक हफ़्ता चला। जब मद्रास में हर हफ़्ते 1,00,000 लोग भूख से मर रहे थे, लिटन दिल्ली में शैम्पेन और आतिशबाज़ी पर ख़र्च कर रहा था।

> *"इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं रहा कि इंसानी ताक़त से क़ाबू में लाई जा सकने वाली वजहों से इतने बड़े पैमाने पर इंसानी जानों का विनाश हुआ हो। भारत के ब्रिटिश शासकों ने लाखों को मरने दिया।"*
>
> *— विलियम डिग्बी, ब्रिटिश समाज-सुधारक, 1901 में लिखते हुए*

1880 की भारतीय अकाल संहिताएँ

मद्रास अकाल के सार्वजनिक कलंक के बाद, ब्रिटिश सरकार ने 1880 में "भारतीय अकाल संहिताएँ" पेश कीं। ये संहिताएँ अकाल-राहत के साफ़ तरीक़े तय करने वाली थीं। ये अधूरे सुधार थे। इन्होंने बाद के कुछ अकालों में मौतें घटाने में मदद ज़रूर की, उससे जो हो सकता था उसके मुक़ाबले। पर इन्होंने अकाल नहीं रोके। इन्होंने अकाल के दौरान अनाज-निर्यात नहीं रोका। इन्होंने उन बुनियादी आर्थिक नीतियों को नहीं बदला जिन्होंने पहली जगह अकाल के हालात बनाए।

अकाल अगले 70 साल तक लाखों भारतीयों को मारते रहे।

1943 का बंगाल अकाल: 30 लाख मरे

मैं इस पर ज़्यादा समय बिताना चाहता हूँ, क्योंकि यह जीती-जागती याद में हुआ, और क्योंकि विंस्टन चर्चिल — जिसे ब्रिटेन में दूसरे विश्वयुद्ध के नायक के रूप में सराहा जाता है — इसके सबसे बुरे पहलुओं के लिए सीधे ज़िम्मेदार था।

1942 और 1943 में, तबाहियों की एक कतार ने बंगाल को मारा। अक्तूबर 1942 में एक चक्रवात ने फ़सलें तबाह कीं। एक चावल-फफूँद ने बची-खुची फ़सल का ज़्यादातर हिस्सा मार दिया। जापानियों ने बर्मा जीत लिया था, जो पहले बंगाल को चावल भेजता था। पूर्वी एशिया से शरणार्थी बंगाल में बाढ़ की तरह आ रहे थे। खाना तंग था, पर अकाल नहीं होना चाहिए था। भारत में सबको खिलाने लायक़ काफ़ी खाना था, अगर खाना ठीक से बाँटा जाता।

अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन, जिन्होंने बचपन में ख़ुद बंगाल अकाल झेला, ने नोबेल पुरस्कार कुछ हद तक यह दिखाने वाले अपने काम के लिए जीता कि 1943 का अकाल असल में खाने की कमी से नहीं आया था। 1943 में बंगाल में खाद्य-उत्पादन 1941 से ज़्यादा था, जब कोई अकाल नहीं था। अकाल महँगाई से, जमाख़ोरी से, युद्ध-अर्थव्यवस्था के दाम ग़रीबों की पहुँच से बाहर धकेलने से, और जान-बूझकर बनाई गई ब्रिटिश नीतियों से आया। आइए, उन नीतियों को समझाऊँ।

नकार-नीति (डिनायल पॉलिसी)। ब्रिटिश सरकार, बर्मा से बंगाल पर जापानी हमले के डर से, ने तय किया कि बंगाल के तटीय इलाक़ों से नावें और खाद्य-भंडार हटा दिए जाएँ ताकि जापानी उन्हें इस्तेमाल न कर सकें। लगभग 66,500 नावें तबाह या ज़ब्त कर दी गईं। ये वही नावें थीं जिनसे मछुआरे मछली पकड़ते और किसान अपनी फ़सल ढोते थे। इनके विनाश ने तटीय बंगाल की स्थानीय खाद्य-अर्थव्यवस्था को अपाहिज कर दिया। लाखों ग्रामीण बंगाली परिवारों ने अपनी रोज़ी कमाने की क्षमता खो दी। उनमें से बहुत-से फिर भूख से मर गए।

ब्रिटिश फ़ौजों और ख़ुद ब्रिटेन की ओर अनाज का मोड़ा जाना। भारत पूरे 1943 अनाज निर्यात कर रहा था। गेहूँ ब्रिटेन, मध्य-पूर्व में ब्रिटिश फ़ौजों, और दूसरे ब्रिटिश उपनिवेशों को भेजा जा रहा था। बंगाली मरते रहे, और चावल-गेहूँ से भरे जहाज़ भारतीय बंदरगाहों से निकलते रहे। जब बंगाल सरकार ने आपातकालीन अनाज-आयात माँगा, लंदन ने बार-बार इनकार किया। ऑस्ट्रेलिया ने बंगाल को दस लाख टन अनाज भेजने का प्रस्ताव दिया। ब्रिटेन ने उसे रोक दिया।

चर्चिल की निजी भूमिका। कई मूल स्रोत, जिनमें ख़ुद युद्ध-मंत्रिमंडल के आधिकारिक कार्यवृत्त शामिल हैं, दिखाते हैं कि विंस्टन चर्चिल ने पूरे 1943 बंगाल को खाद्य-सहायता ख़ुद रोकी या टाली। जब उसके अपने अधिकारियों ने उससे आपातकालीन खेप मंज़ूर करने की भीख माँगी, उसने इनकार किया। उसके अपने भारत-सचिव लियोपोल्ड एमरी के मुताबिक़, चर्चिल ने कहा कि अकाल ख़ुद भारतीयों की ग़लती है क्योंकि वे "ख़रगोशों की तरह बच्चे पैदा करते हैं।" एमरी, जो भारतीय आज़ादी का कोई दोस्त नहीं था, ने अपनी डायरी में लिखा कि भारतीय मामलों पर वह चर्चिल के और हिटलर के रवैये में ज़्यादा फ़र्क़ नहीं देख पाता।

इतिहासकार मधुश्री मुखर्जी ने अपनी 2010 की किताब *चर्चिल्स सीक्रेट वॉर* में, ख़ुद ब्रिटिश सरकार के रिकॉर्डों से, यह सब दर्दनाक ब्योरे के साथ दर्ज किया है।

> *"1943 की गर्मियों में, मंत्रिमंडल को बार-बार अकाल और मौतों की जानकारी दी गई। चर्चिल ने बार-बार सहायता भेजने से इनकार किया। उसने गेहूँ को युद्ध के बाद के लिए यूरोप में जमा करने को तरजीह दी।"*
>
> *— मधुश्री मुखर्जी, चर्चिल्स सीक्रेट वॉर, 2010*

1943 के बंगाल अकाल में लगभग 30 लाख लोग मरे। उनमें से लगभग सब 1943 और 1944 की शुरुआत में मरे। उनमें से ज़्यादातर पूरी भुखमरी से नहीं, बल्कि बीमारी और थकावट से मरे, जब वे अपने गाँवों में ढह जाते या खाने की उम्मीद में कलकत्ता की ओर भटकते। उस वक़्त की तस्वीरें, जो आख़िरकार बंगाल में आने दिए गए पत्रकारों ने खींचीं, ऐसे लोग दिखाती हैं जो होलोकॉस्ट से बचे लोगों जैसे दिखते हैं। दरअसल, कई होलोकॉस्ट इतिहासकारों ने नोट किया है कि तस्वीरें लगभग एक जैसी हैं।

मैं आपको यह सब क्यों बता रहा हूँ

मैं आपको यह कुछ वजहों से बता रहा हूँ।

पहली, क्योंकि ज़्यादातर लोग बस इसे जानते ही नहीं। अगर आप पश्चिम में बड़े होते हैं, तो आप होलोकॉस्ट के बारे में सीखते हैं। आपको सीखना भी चाहिए — वह एक भयानक अपराध था। पर आप शायद यह नहीं सीखते कि अंग्रेज़, जो दूसरे विश्वयुद्ध की कथित अच्छी तरफ़ थे, साथ ही भारत में अपनी ही जान-बूझकर बनाई नीतियों से एक ऐसा अकाल पैदा कर रहे थे जिसने तीस लाख लोग मारे। यह यहूदियों की नाज़ी हत्या के बराबर नहीं है। मंशा अलग थी। पर राज्य-नीति से गई इंसानी जानों के लिहाज़ से, नतीजा बहुत बड़ा था। और यह भारत के बाहर के विश्व-इतिहास की किताबों से ज़्यादातर ग़ायब है।

दूसरी, क्योंकि इसे समझना बदल देता है कि आपको ब्रिटिश साम्राज्य के बारे में कैसे सोचना चाहिए। साम्राज्य, कुल मिलाकर, सभ्यता की कोई ताक़त नहीं था। यह संसाधन निचोड़ने की एक व्यवस्था थी जिसने करोड़ों लोग मारे। इस दौरान कुछ अच्छी चीज़ें बनीं — रेलें, विश्वविद्यालय, क़ानूनी संहिताएँ। पर ये प्रशासन के औज़ार थे, तोहफ़े नहीं। और ये एक ऐसी क़ीमत पर आए जिसे कोई सभ्य हिसाब जायज़ नहीं ठहरा सकता।

तीसरी, क्योंकि यही भारत में ईसाई धर्म-प्रचार के नाकाम रहने की मुख्य वजहों में से एक है। यही अगले अध्याय से कड़ी है। लोगों को यह यक़ीन दिलाना मुश्किल है कि आपका धर्म प्यार और दया का धर्म है, जब उनकी जीती-जागती याद में आपकी सरकार ने जान-बूझकर भुखमरी से उनके दादा-दादी मार दिए हों।

ब्रिटिश शासक और ब्रिटिश धर्म-प्रचारक एक ही लोग नहीं थे। कई मामलों में धर्म-प्रचारक सच्चे थे, आदर्शवादी थे, मेहनती थे। पर वे उसी देश से आए थे जो अकाल-व्यवस्था चला रहा था। भारतीय यह जानते थे। ईसाई नैतिक श्रेष्ठता के दावों को कितनी गंभीरता से लेना है, उन्होंने इसका अपना नतीजा निकाल लिया।

यह सब हम अगले अध्याय में देखेंगे।

XX.

भारत में ईसाई धर्म ज़्यादातर नाकाम क्यों रहा

अब हम इस पूरी किताब के सबसे अहम सवालों में से एक पर आते हैं। ईसाई धर्म, जिसने पूरे यूरोप और पूरे लातिन अमेरिका को जीत लिया था, भारत को जीतने में नाकाम क्यों रहा? 450 साल की यूरोपीय मौजूदगी, धर्म-प्रचार पर ख़र्च किए सैकड़ों करोड़ पाउंड, और उसमें से 200 साल के सीधे औपनिवेशिक राज के बाद भी, आज सिर्फ़ लगभग 2.3 प्रतिशत भारतीय ईसाई हैं। क्यों?

यह सिर्फ़ भारत का सवाल नहीं है। यह ज़्यादातर दक्षिण एशिया, पूर्वी एशिया और मुस्लिम दुनिया पर लागू होता है। ये वही इलाक़े थे जिन्हें बदलने की ईसाई धर्म ने सबसे ज़्यादा कोशिश की। ये वही इलाक़े हैं जहाँ यह सबसे पूरी तरह नाकाम रहा। यह समझना कि क्यों, आपको बहुत कुछ बताता है कि धर्म असल में कैसे फैलते हैं और कैसे फैलने में नाकाम रहते हैं।

आँकड़े

आइए, असली आँकड़ों से शुरू करें। भारत की 2011 की जनगणना के मुताबिक़, धार्मिक बँटवारा यह था:

- हिंदू: 79.8 प्रतिशत
- मुसलमान: 14.2 प्रतिशत
- ईसाई: 2.3 प्रतिशत
- सिख: 1.7 प्रतिशत
- बौद्ध: 0.7 प्रतिशत
- जैन: 0.4 प्रतिशत
- अन्य और अनिर्दिष्ट: 0.9 प्रतिशत

भारत में ईसाइयों की संख्या लगभग 2.8 करोड़ है, जो सुनने में बहुत लगती है, पर 1.4 अरब के देश में यह एक छोटा अल्पसंख्यक है। इसकी तुलना फ़िलीपींस से कीजिए, जहाँ स्पेनी और अमेरिकी धर्म-प्रचारकों ने 90 प्रतिशत से ज़्यादा को ईसाई बना दिया। या लातिन अमेरिका से, जहाँ स्पेनी और पुर्तगाली धर्म-प्रचारकों ने पूरे-पूरे साम्राज्य बदल दिए। या उप-सहारा अफ़्रीका से, जहाँ यूरोपीय धर्म-प्रचारकों ने पिछले 150 साल में करोड़ों लोग बदले।

भारत अलग क्यों है? कई वजहें हैं, और वे साथ मिलकर काम करती हैं।

वजह एक: भारत के पास पहले से एक परिपक्व धार्मिक सभ्यता थी

जब स्पेनी धर्म-प्रचारक 1520 के दशक में मेक्सिको पहुँचे, तब एज़्टेक धार्मिक व्यवस्था पहले से अव्यवस्था में थी। स्पेनियों ने एज़्टेक को सैन्य रूप से हरा दिया था। उनके मंदिर तबाह कर दिए गए थे। उनके पुजारी मारे जा चुके थे। एज़्टेक देवता अपने लोगों की रक्षा करने में नाकाम रहे थे। इस हालत में, ईसाई धर्म ने एक सुसंगत नई व्यवस्था पेश की। एज़्टेक स्पेनियों को ज़्यादा ताक़तवर देख सकते थे और मान सकते थे कि इसलिए उनका भगवान भी ज़्यादा ताक़तवर है। बड़े पैमाने पर धर्म-परिवर्तन हुए।

भारत अलग था। भारत कोई इकलौती सभ्यता नहीं था जिसे जीतकर हतोत्साहित किया जा सके। यह हज़ारों साल पुरानी धार्मिक परंपराओं का एक जाल था, गहरी दार्शनिक नींव के साथ, लिखित ग्रंथों के साथ, बहस की परंपराओं के साथ, बारीक धर्म-विज्ञानों के साथ। जब ईसाई धर्म-प्रचारक आए और उपदेश देने लगे, तो वे ऐसे लोगों से बात नहीं कर रहे थे जिनके पास कोई धार्मिक ढाँचा ही न हो। वे ऐसे लोगों से बात कर रहे थे जो 2,000 साल से ईश्वर, आत्मा, मुक्ति और दुख की प्रकृति पर बहस करते आ रहे थे।

भारतीय हिंदुओं और बौद्धों ने धर्म-प्रचारकों से कड़े सवाल पूछे। अगर तुम्हारा भगवान सर्व-शक्तिमान और सर्व-भला है, तो बुराई क्यों है? अगर मुक्ति के लिए ईसा को मानना ज़रूरी है, तो उन अरबों लोगों का क्या जो ईसा के जन्म से पहले जिए? तुम्हारी बाइबल कई जगह ख़ुद से उल्टी बात क्यों कहती है? तुम कैसे जानते हो कि तुम्हारा ग्रंथ सच्चा है और क़ुरान झूठा, जब दोनों आपस में होड़ करते दावे करते हैं और मुसलमान भी पक्के यक़ीन का दावा करते हैं? मैं वह धर्म क्यों छोड़ूँ जो मेरे पुरखों के लिए पचास पीढ़ियों से काम करता आया है?

ज़्यादातर धर्म-प्रचारकों के पास इन सवालों के अच्छे जवाब नहीं थे। उन्हें ग़रीब पेगनों को बदलने के लिए प्रशिक्षित किया गया था, जिन्होंने धर्म-विज्ञान पर कभी सोचा ही नहीं था। वे उन लोगों से बहस करने को तैयार नहीं थे जिन्होंने अपनी ज़िंदगी दर्शन पढ़ने में लगाई थी।

ब्रिटिश भारत-विद्वान मैक्स म्यूलर, जिन्होंने 1800 के दशक में कई वेद और उपनिषद अंग्रेज़ी में अनुवादित किए, इससे चकित थे। उन्होंने लिखा कि जिन हिंदू और बौद्ध विद्वानों से धर्म-प्रचारक मिले, उनके आगे धर्म-प्रचारक बौद्धिक रूप से कमज़ोर पड़ गए। ख़ुद उन्होंने, हिंदू ग्रंथों के जीवन भर के अध्ययन के बाद, यह मानना शुरू कर दिया कि उनमें ऐसी गहरी सच्चाइयाँ हैं जिन्हें ईसाई धर्म बस मिटाकर ऊपर नहीं लिख सकता।

वजह दो: हिंदू धार्मिक बहुलवाद

याद कीजिए जो मैंने भाग दो के तेरहवें अध्याय में धार्मिक बहुलवाद के भारतीय विचार के बारे में कहा था। बुनियादी हिंदू शिक्षा यह है कि सत्य एक है पर ज्ञानी उसे कई तरीक़ों से कहते हैं। अलग-अलग धर्म एक ही पहाड़ पर चढ़ने के अलग-अलग रास्ते हैं।

यह ईसाई धर्म-प्रचारकों के लिए एक समस्या थी। उनकी पूरी बात यह थी कि ईसाई धर्म ही एकमात्र सच्चा धर्म है और बाक़ी सब झूठे हैं। वे माँग कर रहे थे कि हिंदू वह सब कुछ ठुकरा दें जिस पर वे कभी यक़ीन करते आए, और एक अनन्य सच्चाई मान लें।

हिंदू अक्सर कुछ ऐसा कहकर जवाब देते — ठीक है। ईसा एक महान शिक्षक हैं। हम उन्हें कई दिव्य रूपों में से एक मानते हैं। हम अपने घर के मंदिर में अपने दूसरे देवताओं के साथ ईसा की भी तस्वीर रख लेंगे। अब

हमारे पास सब आ गए।

यह वह नहीं था जो धर्म-प्रचारक चाहते थे। वे ईसा को हिंदू देव-समूह में जोड़ने की कोशिश नहीं कर रहे थे। वे चाहते थे कि हिंदू पूरा हिंदू देव-समूह फेंक दें और सिर्फ़ ईसा को मानें। पर हिंदू मन को यह अजीब और ग़ैर-ज़रूरी लगा। तुम दूसरे दिव्य रूपों को क्यों ठुकराओगे? अगर ईश्वर अनंत है, तो ज़रूर वह कई रूपों में आ सकता है। ईसाई धर्म का अनन्य एकेश्वरवाद, जो दूसरे धर्मों को झूठा मानता है, भारतीय ढाँचे में बस तुक नहीं रखता था।

यह उन सबसे गहरी वजहों में से एक है जिनसे ईसाई धर्म भारत में जूझता रहा। दोनों धर्म सिर्फ़ ख़ास विश्वासों पर ही नहीं, बल्कि इस बुनियादी ढाँचे पर असहमत थे कि धार्मिक सच्चाई काम कैसे करती है। जब तक आप उस असहमति को न सुलझाएँ, आप किसी को सचमुच बदल नहीं सकते। आप बस एक समानांतर समुदाय बना सकते हैं।

वजह तीन: जाति की समस्या

ईसाई धर्म सिद्धांत में सिखाता है कि सारी आत्माएँ ईश्वर के सामने बराबर हैं। पर भारत में अमल में, धर्म-प्रचारकों को अक्सर जाति-व्यवस्था से समझौता करना पड़ता था, क्योंकि उनके धर्म बदले लोग कई अलग-अलग जातियों से आते थे और एक साथ खाना नहीं खाते थे या आपस में शादी नहीं करते थे। 1900 के दशक तक भी, कई भारतीय गिरजाघरों में अलग-अलग जातियों के लिए अलग-अलग प्रार्थना-सभाएँ होती थीं। निचली जाति के धर्म बदले लोगों को कभी-कभी अलग बिठाया जाता या नीचा दर्जा दिया जाता।

इससे ईसाई धर्म ऊँची जातियों के लिए एक ऊँची-जाति क्लब और निचली जातियों के लिए एक निचली-जाति शरण-स्थल जैसा दिखने लगा, न कि एक इकलौता समुदाय। इससे ईसाई धर्म का सार्वभौमिक भाईचारे का दावा हर ध्यान देने वाले भारतीय के लिए खोखला सुनाई देने लगा।

इतिहास में ईसाई धर्म अपनाने वाले ज़्यादातर भारतीय दो समूहों से आए — दलित (जिन्हें पहले अछूत कहा जाता था), जिन्होंने हिंदू जाति-व्यवस्था के सबसे बुरे हिस्से से बचने के लिए धर्म बदला, और पूर्वोत्तर भारत के कुछ आदिवासी समूह, जो शुरू में सचमुच हिंदू थे ही नहीं। ये वे लोग थे जिनके लिए ईसाई धर्म एक सच्चा दर्जा-सुधार पेश करता था। ऊँची जाति के हिंदुओं को धर्म बदलने से पाने को कम और खोने को बहुत था, क्योंकि बदलने का मतलब था अपने परिवार और सामाजिक जाल से कट जाना। तो उन्होंने ज़्यादातर धर्म नहीं बदला।

इसीलिए भारतीय ईसाई धर्म का भूगोल अजीब है। आज सबसे ज़्यादा ईसाई आबादी वाले राज्य हैं नागालैंड (88 प्रतिशत ईसाई), मिज़ोरम (87 प्रतिशत), और मेघालय (75 प्रतिशत) — ये सब पूर्वोत्तर के आदिवासी-बहुल राज्य हैं जो कभी गहराई से हिंदू थे ही नहीं। केरल में एक बड़ा ईसाई अल्पसंख्यक (18 प्रतिशत) है, क्योंकि वहाँ संत थॉमस ईसाई समुदाय प्राचीन काल से है, जिसका ज़िक्र हमने भाग दो में किया था, और जो यूरोपीय मिशनों से पहले का है। गोवा कैथोलिक है, पुर्तगाली विजय और धर्म-न्यायालय की वजह से।

भारत में लगभग हर दूसरी जगह, ईसाई धर्म ने नाममात्र की पैठ बनाई। करोड़ों लोगों वाली हिंदी पट्टी में ईसाई आबादी एक प्रतिशत से नीचे है। बंगाल में एक प्रतिशत से नीचे है। तमिलनाडु में, सदियों के धर्म-प्रचार

के बावजूद, सिर्फ़ लगभग छह प्रतिशत है। भारत में ईसाई परियोजना बस ज़्यादातर भारतीयों तक पहुँची ही नहीं।

वजह चार: औपनिवेशिक हिंसा से जुड़ाव

यह पिछले अध्यायों से कड़ी है। भारत में ईसाई धर्म ब्रिटिश राज से जुड़ा था। धर्म-प्रचारक ब्रिटिश थे। औपनिवेशिक अधिकारी ब्रिटिश थे। ईसाई स्कूल, गिरजाघर और अस्पताल कुछ हद तक औपनिवेशिक पैसे से चलते थे। जब भारतीय ईसाई धर्म के बारे में सोचते, तो वे अक्सर उसी व्यवस्था के बारे में सोचते जो उन पर कर लगा रही थी, उनकी अर्थव्यवस्था दबा रही थी, और उनके दादा-दादी को भूखा मार रही थी।

1943 के बंगाल अकाल ने, ख़ास तौर पर, भारत में ईसाई धर्म की साख को भारी नुक़सान पहुँचाया। बंगाल एक सदी से ज़्यादा धर्म-प्रचार का बड़ा केंद्र रहा था। वहाँ ईसाई कॉलेज, ईसाई अस्पताल, ईसाई स्कूल थे। फिर एक ईसाई सरकार ने तीस लाख बंगालियों को भूखा मरने दिया, जबकि गेहूँ इंग्लैंड भेजा जा रहा था। उसके बाद, ईसाई नैतिक बात बहुत-से भारतीयों को खोखली सुनाई दी।

यह व्यक्तिगत रूप से कई धर्म-प्रचारकों के साथ नाइंसाफ़ी है। उनमें से कई सच्चे लोग थे जिन्होंने सचमुच भला किया। उन्होंने ऐसे अस्पताल चलाए जहाँ ग़रीबों का मुफ़्त इलाज होता। उन्होंने ऐसे स्कूल खोले जिन्होंने उन बच्चों को पहली अंग्रेज़ी शिक्षा दी जो बाद में भारतीय नेता बने। उनमें से कुछ ने सार्वजनिक रूप से औपनिवेशिक नीति की आलोचना की। पर वे बड़ी ब्रिटिश परियोजना से जुड़े थे, और भारतीयों के लिए उन्हें उससे अलग करना मुश्किल था।

वजह पाँच: हिंदू पुनर्जागरण

लगभग उसी समय जब ईसाई मिशन भारतीयों को बदलने की सबसे कड़ी कोशिश कर रहे थे, यानी 1800 के दशक के आख़िर और 1900 के दशक की शुरुआत में, ख़ुद हिंदू धर्म एक पुनर्जागरण से गुज़र रहा था। (पुनर्जागरण यानी फिर से जागना और निखरना।) भारतीय बुद्धिजीवी हिंदू सोच को आधुनिक शब्दों में फिर से खोज और पेश कर रहे थे।

स्वामी विवेकानंद, जिनका जन्म 1863 में हुआ, इस पुनर्जागरण के सबसे अहम लोगों में से एक थे। वे 1893 में अमेरिका गए और शिकागो में "धर्म संसद" को संबोधित किया। उनका भाषण एक सनसनी बन गया। उन्होंने हिंदू धर्म को कोई पिछड़ा अंधविश्वास नहीं, बल्कि एक बारीक दार्शनिक परंपरा के रूप में पेश किया। उन्होंने तर्क दिया कि हिंदू धर्म का बहुलवाद असल में ईसाई अनन्यता से नैतिक रूप से श्रेष्ठ है। उन्होंने अमेरिकी बुद्धिजीवियों को, और कुछ ईसाइयों तक को, अपनी ओर कर लिया।

विवेकानंद की अमेरिका-यात्रा पश्चिम में योग और वेदांत के लोकप्रिय होने की शुरुआत थी, एक प्रक्रिया जो पिछली सदी में और तेज़ हुई है। आज, पश्चिम में करोड़ों लोग योग करते हैं, हिंदू और बौद्ध तकनीकों से ध्यान करते हैं, और भगवद्गीता तथा उपनिषदों के अनुवाद पढ़ते हैं। जिस सभ्यता को ईसाई धर्म-प्रचारकों ने धर्म-परिवर्तन का निशाना समझा था, वह अब ख़ुद ईसाई धरतियों पर अपने धर्म-प्रचारक भेज रही थी।

हिंदू पुनर्जागरण के दूसरे लोगों में थे राजा राम मोहन राय, जिन्होंने सती (विधवा को जलाना) जैसी कई समस्याग्रस्त हिंदू प्रथाओं में सुधार किया, साथ ही हिंदू दर्शन के मूल की रक्षा भी की। दयानंद सरस्वती,

जिन्होंने आर्य समाज बनाया, एक हिंदू सुधार आंदोलन जिसका तर्क था कि हिंदू धर्म ईसाई धर्म और इस्लाम से बौद्धिक रूप से होड़ कर सकता है और करनी भी चाहिए। अरविंद घोष, जिन्होंने हिंदू दर्शन को आधुनिक यूरोपीय सोच के साथ मिलाकर एक नया संश्लेषण बनाया। रवींद्रनाथ टैगोर, जिन्होंने 1913 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार जीता और भारतीय सोच को विश्व-स्तर पर सम्मानित बनाया।

मिलकर, इन लोगों ने पढ़े-लिखे भारतीयों को एक ही साथ आधुनिक और हिंदू होने का रास्ता दिया। उन्हें आधुनिक विज्ञान या आधुनिक दर्शन से जुड़ने के लिए ईसाई बनने की ज़रूरत नहीं थी। वे भारतीय भी हो सकते थे और आधुनिक भी। इसने अभिजात वर्ग के बीच ईसाई धर्म-परिवर्तन का बहुत-सा आकर्षण ख़त्म कर दिया।

> *"हिंदू धर्म में सबसे बड़ा सुधार यह है कि वह सदियों तक विदेशियों से यह सुनने के बाद कि वह उथला है, फिर से अपनी गहराई के प्रति सचेत हो रहा है।"*
>
> *— स्वामी विवेकानंद, शिकागो भाषण, 11 सितंबर, 1893*

वजह छह: विकेंद्रीकरण, फिर से

मैं उस वजह पर ख़त्म करूँगा जिसका ज़िक्र मैंने भाग दो के अंत में किया था, क्योंकि इसे दोहराना ज़रूरी है। हिंदू धर्म इसलिए बचा क्योंकि उसके पास कोई केंद्रीय सत्ता नहीं थी जिसे पकड़ा जा सके।

जब रोमन ईसाई बने, तो वे इसे ऊपर से नीचे लागू कर सके क्योंकि साम्राज्य के पास एक ही पदानुक्रम था। जब यूरोप के राजा बदले, तो वे अपनी प्रजा का धर्म फ़रमान से तय कर सके। पोप रोम में बैठता और पूरे महाद्वीप के बिशपों को आदेश देता था। धर्म के पास एक कमान-कड़ी थी।

हिंदू धर्म के पास कोई कमान-कड़ी नहीं थी। कोई हिंदू पोप नहीं था। कोई एक पवित्र ग्रंथ नहीं था जिसे सारे हिंदुओं को मानना ज़रूरी हो। कोई केंद्रीय रस्में नहीं थीं जो सारे हिंदुओं को करनी ज़रूरी हों। हज़ारों मंदिर थे, सब स्थानीय रूप से चलते। करोड़ों घरेलू पूजा-स्थान थे। हिंदू दर्शन के सौ अलग-अलग स्कूल थे। शिव को पूजने वाले संप्रदाय थे, विष्णु को पूजने वाले, देवी को पूजने वाले, और ऐसे भी जो किसी निजी ईश्वर में यक़ीन ही नहीं करते थे। यह विविधता ही असली बात थी।

आप ऐसे धर्म को नहीं जीत सकते। आप व्यक्तियों को बदल सकते हैं। आप ख़ास मंदिर तबाह कर सकते हैं। आप किसी ख़ास राजा को मना सकते हैं। पर धर्म बग़ल वाले गाँव में, शहर के दूसरे छोर के घरेलू पूजा-स्थान में, दूसरे शहर के दर्शन-स्कूल में चलता रहेगा। हमला करने के लिए कोई केंद्र ही नहीं है। इसीलिए न इस्लाम 700 साल में, न ईसाई धर्म 450 साल में हिंदू धर्म को तोड़ सका। वे उसे कमज़ोर कर सके। वे उसे छोटा कर सके। वे उसे तबाह नहीं कर सके।

हिंदू अध्ययन की हार्वर्ड विद्वान डायना एक ने अपनी 2012 की किताब *इंडिया: ए सेक्रेड ज्योग्राफ़ी* में यह बात अच्छी तरह रखी। जो विकेंद्रीकरण भाग दो के चौदहवें-पंद्रहवें अध्याय में भारत के लिए एक राजनीतिक कमज़ोरी था, वही एक आध्यात्मिक ताक़त साबित हुआ। भारत को हमलावर फ़ौजों से नहीं बचाया जा सका क्योंकि उसके पास कोई केंद्रीय फ़ौज नहीं थी। भारत को धर्म-प्रचारक नहीं बदल सके क्योंकि उसके पास बदलने के लिए कोई केंद्रीय धर्म नहीं था। एक ही गुण अलग-अलग संदर्भों में अलग-अलग चीज़ का मतलब रखता था।

आज भारत में ईसाई धर्म

आज भारतीय ईसाई लगभग 2.8 करोड़ लोगों का एक छोटा पर अहम समुदाय हैं। उन्होंने भारतीय शिक्षा, स्वास्थ्य और समाज-सेवा में बहुत बड़ा योगदान दिया है। भारत के कई बेहतरीन स्कूल, कॉलेज और अस्पताल ईसाई धर्म-प्रचारकों ने बनाए थे और आज भी चलते हैं। भारतीय ईसाई धर्म ने बड़े लेखक, समाज-सुधारक और राजनेता पैदा किए। कलकत्ता की मदर टेरेसा, जो अल्बानिया में जन्मीं पर अपनी ज़्यादातर ज़िंदगी भारत में रहीं, ने सबसे ग़रीबों के बीच काम के लिए 1979 में नोबेल शांति पुरस्कार जीता।

भारतीय ईसाई धर्म अपने ढंग से अलग भी है। केरल के संत थॉमस ईसाई, जो ईसा के शिष्य थॉमस से अपना वंश जोड़ते हैं, दुनिया के सबसे पुराने ईसाई समुदायों में से एक हैं — ज़्यादातर यूरोपीय गिरजाघरों से भी पुराने। उनकी अपनी प्रार्थना-पद्धति, अपनी परंपराएँ, अपना देसी भारतीय रंग है। दूसरे भारतीय ईसाई समुदायों ने "संस्कृति में रचाव" का अपना धर्म-विज्ञान विकसित किया है, जिसका मतलब है ईसाई पूजा के लिए भारतीय रूप (संगीत, नृत्य, वास्तुकला) इस्तेमाल करना। ऐसे भारतीय गिरजाघर हैं जो बाहर से ज़्यादा हिंदू मंदिर जैसे दिखते हैं। ऐसा भारतीय ईसाई शास्त्रीय संगीत है जो रागों पर आधारित है। भारतीय ईसाई धर्म-विज्ञान का एक स्कूल तक है जो ईश्वर के बारे में सोचने के तरीक़ों के रूप में हिंदू अवधारणाओं को गंभीरता से लेता है।

भारत में ईसाई धर्म ज़िंदा है, और अपना अलग काम कर रहा है। बस वह ज़्यादातर भारतीयों का धर्म नहीं है, और शायद कभी नहीं होगा।

यही बात चीन के बारे में और भी ज़्यादा सच है, जिसे हम भाग चार में देखेंगे। और जापान के बारे में भी। और कुछ अलग हद तक कोरिया के बारे में, जो असल में काफ़ी हद तक ईसाई बन गया (आज लगभग 30 प्रतिशत), कोरियाई इतिहास की ख़ास वजहों से। ये पूर्वी एशियाई मामले हमें और भी बताएँगे कि ईसाई धर्म पूरब को क्यों नहीं जीत सका। पर उस तक पहुँचने से पहले, हमें भारतीय कहानी पूरी करनी है। अगले अध्याय में, हम 1857 के महान विद्रोह को देखेंगे, जब भारतीयों ने पहली बार अंग्रेज़ों को निकालने की कोशिश की। वे नाकाम रहे। पर उन्होंने सीखा, और वे सबक़ नब्बे साल बाद मायने रखेंगे।

XXI.

1857 और लंबी जागृति

10 मई, 1857 को, दिल्ली से लगभग 65 किलोमीटर उत्तर-पूर्व में, मेरठ छावनी में तैनात भारतीय सिपाहियों की एक रेजिमेंट ने अपने ब्रिटिश अफ़सरों के ख़िलाफ़ बग़ावत कर दी। अगले ही दिन तक, बग़ावत दिल्ली तक फैल गई। साल ख़त्म होते-होते, ज़्यादातर उत्तर और मध्य भारत खुले विद्रोह में था। यह सब ख़त्म होने से पहले, अंग्रेज़ हज़ारों भारतीयों को, आम नागरिकों समेत, औपनिवेशिक दौर की कुछ सबसे बुरी हिंसा में मार चुके होंगे। 1857 की घटनाओं को अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। अंग्रेज़ों ने इसे "सिपाही विद्रोह" कहा। भारतीय इसे "आज़ादी की पहली जंग" कहते हैं। आप जो भी कहें, यह वह पल था जब अंग्रेज़ों को समझ आया कि भारत पर उनकी पकड़ उतनी मज़बूत नहीं जितनी वे समझते थे। और यह वह पल था जब भारतीयों ने यह मानना शुरू किया कि वे पलटवार कर सकते हैं।

> **"सिपाही" कौन थे?** सिपाही वे भारतीय थे जो ब्रिटिश फ़ौज में नौकरी करते थे। पूरी ब्रिटिश ताक़त इन्हीं भारतीय सिपाहियों के दम पर टिकी थी — इसीलिए उनकी बग़ावत इतनी बड़ी बात थी।

वजहें: सिपाहियों ने बग़ावत क्यों की

1857 के विद्रोह का तात्कालिक चिंगारी एक छोटी बात थी जो बड़ी बन गई। ब्रिटिश फ़ौज ने अभी-अभी अपने भारतीय सिपाहियों को नई एनफ़ील्ड राइफ़लें दी थीं। इन राइफ़लों को भरने के लिए, सिपाहियों को जानवर की चर्बी लगे काग़ज़ के कारतूस दाँत से खोलने पड़ते थे। एक अफ़वाह फैली कि चर्बी गाय और सूअर की है। गाय की चर्बी हिंदू सिपाहियों को नाराज़ करती क्योंकि हिंदू धर्म में गाय पवित्र है। सूअर की चर्बी मुस्लिम सिपाहियों को नाराज़ करती क्योंकि इस्लाम में सूअर वर्जित है।

अफ़वाह असल में काफ़ी हद तक सही थी। ब्रिटिश रिकॉर्ड पुष्टि करते हैं कि कुछ शुरुआती कारतूसों में सचमुच गाय की चर्बी और सूअर की चर्बी इस्तेमाल हुई थी। जब अंग्रेज़ों को यह समझ आया तो उन्होंने इन्हें वापस लेने की कोशिश की, पर नुक़सान हो चुका था। सिपाहियों को यक़ीन था कि अंग्रेज़ उनकी धार्मिक पवित्रता छीनने की कोशिश कर रहे हैं। यह चिंगारी थी। पर बारूद सालों की जमा शिकायतों ने बिछाया था।

आर्थिक शिकायतें। 1857 तक, कंपनी नब्बे साल भारत से व्यवस्थित ढंग से दौलत निचोड़ चुकी थी। भारतीय कारीगर बर्बाद हो चुके थे। भारतीय किसानों पर ऐसी दरों से कर लगते कि वे अक्सर भुखमरी में धकेल दिए जाते। भारतीय रईस कंपनी के विस्तार से बेदख़ल हो चुके थे। 1848 में गवर्नर जनरल लॉर्ड डलहौज़ी ने जो "हड़प नीति" (डॉक्ट्रिन ऑफ़ लैप्स) पेश की, उससे कंपनी किसी भी ऐसे भारतीय राज्य को हड़प सकती थी जिसका शासक बिना पुरुष वारिस के मरा हो, और गोद लिए वारिसों को मान्यता न देती। इससे सतारा, झाँसी, नागपुर और कई दूसरे राज्य हड़पे जा चुके थे। बेदख़ल राजघराने ग़ुस्से में थे।

धार्मिक शिकायतें। अंग्रेज़ों ने 1829 में हिंदू सती-प्रथा (विधवा को जलाना) पर रोक लगाई थी। मानवीय नज़रिए से यह शायद अच्छी रोक थी, पर कुछ भारतीयों ने इसे अपने धर्म में दख़ल माना। अंग्रेज़ों ने हिंदू विधवाओं को दोबारा शादी की इजाज़त देने वाला क़ानून भी पास किया था (1856 का विधवा पुनर्विवाह अधिनियम), जो फिर पारंपरिक प्रथा में दख़ल था। ईसाई धर्म-प्रचारक पूरे भारत में सक्रिय थे और अपनी कोशिशों में आक्रामक थे। हिंदुओं और मुसलमानों — दोनों में एक सच्चा डर था कि ब्रिटिश सरकार चुपके से उन्हें ईसाई बनाने का काम कर रही है।

हाल की हड़प। 1856 में, विद्रोह से एक साल पहले, अंग्रेज़ों ने अवध (जिसे औध भी कहते हैं) का राज्य हड़प लिया था, जो बचे हुए स्वतंत्र भारतीय राज्यों में सबसे बड़े और अमीर में से एक था। इस हड़प को व्यापक रूप से एक धोखा माना गया, क्योंकि अवध एक ब्रिटिश सहयोगी रहा था। अवध के नवाब को गद्दी से हटाकर पेंशन पर बिठा दिया गया। बहुत-से सिपाही अवधी परिवारों से आते थे, और अंग्रेज़ों ने उनकी मातृभूमि के साथ जो किया उससे वे ग़ुस्से में थे।

ख़ास सैन्य शिकायतें। कंपनी ज़्यादा-से-ज़्यादा भारतीय सिपाहियों को विदेशी युद्धों के लिए इस्तेमाल कर रही थी, जिनमें अफ़ग़ानिस्तान और बर्मा शामिल थे। ये तैनातियाँ सिपाहियों के भर्ती-अनुबंध के तहत तकनीकी रूप से ग़ैर-क़ानूनी थीं, जो उन्हें भारत के भीतर की सेवा तक सीमित रखते थे। तनख़्वाह घटाई जा रही थी। सिपाहियों के साथ बदसलूकी करने वाले निर्मम अफ़सरों को बचाया जाता था। सबेदार के पद से ऊपर पदोन्नति भारतीयों के लिए नामुमकिन थी, चाहे सबसे प्रतिभाशाली सिपाही ही क्यों न हो।

ये सारी शिकायतें सालों से बन रही थीं। कारतूस का मामला बस आख़िरी तिनका था।

विद्रोह फैलता है, मई से जुलाई 1857

10 मई को मेरठ में शुरू हुआ विद्रोह जल्दी फैल गया। 24 घंटे के भीतर, बाग़ी सिपाही दिल्ली पहुँच गए। उन्होंने 82 साल के मुग़ल बादशाह बहादुर शाह ज़फ़र को अपना नेता और नए आंदोलन का प्रतीकात्मक मुखिया घोषित किया। बहादुर शाह हिचकिचाते थे। वे बूढ़े, बीमार, और स्वभाव से योद्धा नहीं बल्कि कवि थे। पर वे प्रतिरोध के प्रतीक बन गए।

उत्तर भारत के दूसरे हिस्से हफ़्तों के भीतर फूट पड़े। अवध की राजधानी लखनऊ विद्रोह का बड़ा केंद्र बनी। कानपुर में एक बड़ी घेराबंदी और क़त्लेआम हुआ। झाँसी अपनी नौजवान रानी, लक्ष्मीबाई, की अगुवाई में उठ खड़ी हुई, जो भारतीय इतिहास की सबसे मशहूर औरतों में से एक बनीं। ग्वालियर गिरा। आज के उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश के छोटे केंद्र भी शामिल हो गए।

जो बात कभी-कभी छूट जाती है, वह यह है कि विद्रोह कितना व्यापक था। यह सिर्फ़ सिपाही विद्रोह नहीं था। आम नागरिक शामिल हुए। किसान शामिल हुए। रईस शामिल हुए। हिंदू और मुसलमान साथ लड़े, अक्सर स्थानीय धार्मिक हस्तियों के तालमेल से जो उन्हें बताते कि वे विदेशी ईसाई शासकों के ख़िलाफ़ दोनों धर्मों की रक्षा कर रहे हैं। इतिहासकार एरिक स्टोक्स ने इसे "ब्रिटेन का भुलाया हुआ किसान विद्रोह" कहा, क्योंकि जिस गहरे ग्रामीण ग़ुस्से ने इसे हवा दी, उसे मानक ब्रिटिश विवरणों में कम करके बताया गया है।

मशहूर बाग़ी

1857 में कई मशहूर भारतीय हस्तियाँ उभरीं। आइए, सबसे अहम कुछ के नाम लूँ।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई। वह एक छोटे राज्य की रानी थीं जिसे अंग्रेज़ों ने अभी "हड़प नीति" के तहत हड़पा था। उनके गोद लिए बेटे का गद्दी पर हक़ अंग्रेज़ों ने नकार दिया था। जब विद्रोह आया, वह उसमें शामिल हो गईं। उन्होंने ख़ुद युद्ध में सेना का नेतृत्व किया। वह कवच पहनकर लड़ीं। 18 जून, 1858 को ग्वालियर के पास युद्ध में 29 या 30 साल की उम्र में वह मारी गईं। ब्रिटिश सेनापति ह्यू रोज़ ने कहा कि वह बाग़ी पक्ष की सबसे बहादुर और सबसे अच्छी सैन्य नेता थीं।

तात्या टोपे। एक चतुर मराठी सेनापति जिसके पास कभी औपचारिक कमान नहीं रही पर जो सबसे असरदार बाग़ी नेताओं में से एक बना। उसने मध्य भारत भर में अभियान चलाए, ब्रिटिश रसद-कड़ियों पर धावे बोले, हज़ारों छापामार लड़ाकों का नेतृत्व किया। आख़िरकार अप्रैल 1859 में धोखे से पकड़ा गया और फाँसी दे दी गई।

नाना साहब। आख़िरी मराठा पेशवा का गोद लिया बेटा, जिसकी विरासत अंग्रेज़ों ने नकार दी थी। उसने कानपुर में विद्रोह का नेतृत्व किया। उसकी फ़ौज द्वारा वहाँ की ब्रिटिश छावनी पर क़ब्ज़े के बाद, उसके आदमियों ने लगभग 200 ब्रिटिश औरतों और बच्चों का क़त्ल किया, एक घटना जो ब्रिटिश ग़ुस्से का केंद्र बनी। विद्रोह कुचले जाने के बाद नाना साहब ग़ायब हो गया। शायद वह नेपाल भाग गया। उसका अंजाम अनजान है।

बहादुर शाह ज़फ़र। आख़िरी मुग़ल बादशाह, जो विद्रोह का प्रतीक-मुखिया बना। सितंबर 1857 में दिल्ली के अंग्रेज़ों के हाथ गिरने के बाद, वह पकड़ा गया। उसके बेटे उसके सामने मार दिए गए। उसे रंगून, बर्मा निर्वासित कर दिया गया, जहाँ 1862 में उसकी मौत हुई और उसे एक बेनाम क़ब्र में दफ़नाया गया। अंग्रेज़ नहीं चाहते थे कि उसकी क़ब्र तीर्थ-स्थल बने। उसने अपने आख़िरी सालों में जो कविता लिखी, वह आज भी उर्दू साहित्य में पसंद की जाती है।

> *"कितना बदनसीब है ज़फ़र, दफ़न के लिए भी, दो गज़ ज़मीन भी न मिली कू-ए-यार में।"*
>
> *— बहादुर शाह ज़फ़र, रंगून में निर्वासन के दौरान लिखा, लगभग 1860*

ब्रिटिश जवाब: फिर से क़ब्ज़ा और अत्याचार

ब्रिटिश जवाब भारी और निर्मम था। उन्होंने पूरे साम्राज्य से रेजिमेंटें मँगाईं, ख़ुद ब्रिटेन से, सीलोन से, और चीन से भी। 1857 के अंत तक, उनके पास भारत में लगभग 60,000 यूरोपीय फ़ौजी थे, उपमहाद्वीप पर अब तक जुटाई गई सबसे बड़ी यूरोपीय फ़ौज।

लंबी घेराबंदी के बाद सितंबर 1857 में अंग्रेज़ों ने दिल्ली दोबारा ली। जब ब्रिटिश फ़ौजी शहर में घुसे, तो उन्होंने वह किया जिसे ज़्यादातर इतिहासकार अब मानते हैं कि बदले की एक जान-बूझकर चलाई गई मुहिम थी। हज़ारों भारतीय मारे गए, उनमें कई ऐसे जिनका विद्रोह से कोई लेना-देना नहीं था।

बाक़ी उत्तर भारत भर में, यही ढर्रा दोहराया गया। शहर दोबारा जीते जाते। फिर उन्हें सज़ा दी जाती। पूरे-पूरे गाँव जला दिए जाते। शक के बाग़ियों को बड़ी सड़कों के किनारे पेड़ों से फाँसी पर लटका दिया जाता, कभी-कभी एक ही दिन में सैकड़ों। मौत का एक ख़ास तौर पर बदनाम तरीक़ा था पकड़े बाग़ियों को तोपों के मुँह से

बाँधकर दाग़ देना। इससे शरीर पूरी तरह नष्ट हो जाता, जिसका हिंदुओं और मुसलमानों — दोनों के लिए धार्मिक महत्व था, क्योंकि वे ठीक अंतिम संस्कार के लिए पूरे शरीर को ज़रूरी मानते थे।

1857 के दमन में कितने भारतीय मरे, इसके अनुमान लगभग 8,00,000 (इतिहासकार अमरेश मिश्रा का 2007 का एक विवादित अनुमान) से लेकर लगभग 1,00,000 (ज़्यादा सतर्क आँकड़े) तक हैं। सच शायद बीच में कहीं है। जो साफ़ है वह यह है कि अंग्रेज़ों ने भारतीयों के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा भारतीय मारे जितने भारतीयों ने उनके मारे।

एक कम मशहूर तथ्य भी है। 1857 के बाद, अंग्रेज़ों ने उन जगहों पर भी सामूहिक फाँसियाँ दीं जहाँ उन्हें हमदर्दी का शक था, भले ही वहाँ कोई असली विद्रोह न हुआ हो। बदला सालों चलता रहा।

कंपनी का अंत और राज की शुरुआत

लंदन की ब्रिटिश सरकार 1857 से सकते में थी। किसी निजी कंपनी के ज़रिए भारत चलाने का पूरा विचार अचानक बेतुका लगने लगा। 1858 में, संसद ने "भारत सरकार अधिनियम" पास किया, जिसने कंपनी-राज ख़त्म कर दिया और भारत का सीधा नियंत्रण ब्रिटिश राजगद्दी को सौंप दिया। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी 1874 में, सदियों के अस्तित्व के बाद, भंग कर दी गई।

1858 से, भारत आधिकारिक रूप से "ब्रिटिश राज" था, जिस पर ब्रिटेन सीधे एक वायसराय के ज़रिए राज करता था, जिसे ब्रिटिश सरकार नियुक्त करती थी। रानी विक्टोरिया को आख़िरकार 1876 में "भारत की महारानी" घोषित कर दिया गया। भारतीय सिविल सेवा बनाई गई, जिसमें ज़्यादातर ब्रिटिश आदमी होते थे, जो लंदन में प्रतियोगी परीक्षाओं से चुने जाते थे।

कुछ मायनों में, सीधे ब्रिटिश राज में चीज़ें थोड़ी बेहतर हुईं। 1880 की अकाल संहिताओं ने कुछ इलाक़ों में अकाल-मौतें घटाईं (हालाँकि ख़त्म नहीं कीं)। आधुनिक विश्वविद्यालय बने। रेल-जाल फैला। कुछ भारतीय अभिजात वर्ग को अधूरी शिक्षा दी गई जिसने औपनिवेशिक व्यवस्था में करियर के दरवाज़े खोले।

पर बुनियादी व्यवस्था निचोड़ वाली ही रही। भारत अब भी निचोड़ा जा रहा था। ज़्यादातर भारतीय बेहद ग़रीब बने रहे। अकाल अब भी लाखों को मारते रहे। अंग्रेज़ अब भी राज करते, भारतीय अब भी सेवा करते। 1857 ने सिर्फ़ एक बड़ी चीज़ बदली — अब ब्रिटिश शासक ज़्यादा सचेत थे कि वे कितने कमज़ोर हैं। वे बेचैनी के किसी भी संकेत पर नज़र रखते। उन्होंने ज़्यादा बारीक ख़ुफ़िया और पुलिस-व्यवस्था बनाई। उन्होंने "फूट डालो और राज करो" की कोशिश की — हिंदुओं को मुसलमानों के ख़िलाफ़, ऊँची जातियों को निचली जातियों के ख़िलाफ़ खड़ा करके, ताकि एक और एकजुट विद्रोह न हो।

लंबी जागृति

1857 नाकाम रहा था, पर भुलाया नहीं गया था। उसके बाद के दशकों में, भारतीयों की एक नई पीढ़ी यह सोचने लगी कि अंग्रेज़ों को कैसे हटाया जाए। वे 1857 के बाग़ियों जैसे सिपाही नहीं थे। वे वकील, पत्रकार, अध्यापक, डॉक्टर थे। उन्होंने अंग्रेज़ी में पढ़ाई की थी। उनमें से कई ने ख़ुद ब्रिटेन में पढ़ाई की थी। वे ब्रिटिश व्यवस्था को अंदर से जानते थे।

उन्होंने यह समझा कि भारत में अंग्रेज़ ऐसे तरीक़ों से कमज़ोर थे जो ख़ुद अंग्रेज़ नहीं देख पाते थे। 30 करोड़ लोगों के देश में अंग्रेज़ सिर्फ़ लगभग 1,00,000 थे। वे करोड़ों भारतीयों के सहयोग पर निर्भर थे जो उनकी फ़ौज, उनकी नौकरशाही, उनकी अर्थव्यवस्था में सेवा देते थे। अगर भारतीय बस सहयोग करना बंद कर दें, तो ब्रिटिश व्यवस्था ढह जाएगी।

यही समझ आख़िरकार गांधी के अहिंसक प्रतिरोध की नींव बनेगी। पर 1857 में वह अभी दशकों दूर था। 1800 के दशक के आख़िर में, ब्रिटिश राज का भारतीय विरोध अब भी छोटा, ज़्यादातर अभिजात, और ज़्यादातर नरम था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस 1885 में पढ़े-लिखे भारतीय पेशेवरों और कुछ हमदर्द अंग्रेज़ों ने बनाई। शुरू में यह एक बहस-सभा थी जो नम्रता से अंग्रेज़ों से सुधार माँगती थी। अंग्रेज़ इसे "सालाना चीख़" कहते और ज़्यादातर अनदेखा करते थे।

पर कांग्रेस बढ़ी। नौजवान, ज़्यादा कट्टर आवाज़ें जुड़ीं। 1900 के दशक की शुरुआत तक, कांग्रेस में ऐसे धड़े थे जो पूरी आज़ादी से कम कुछ नहीं चाहते थे। अंग्रेज़ों ने प्रतिद्वंद्वी संगठन खड़े करके इसे तोड़ने की कोशिश की। उन्होंने राजनीति को साम्प्रदायिक बनाकर, हिंदुओं और मुसलमानों के बीच जान-बूझकर धार्मिक फूट को बढ़ावा देकर भारतीय समाज को तोड़ने की कोशिश की। 1905 में, उन्होंने बंगाल को धार्मिक आधार पर बाँट दिया, कथित तौर पर प्रशासनिक कारणों से, पर असल में भारतीय राष्ट्रवादियों की सबसे बड़ी आबादी को बाँटने के लिए। यह बँटवारा इतना अलोकप्रिय था कि इसे 1911 में वापस लेना पड़ा।

1900 के दशक की शुरुआत तक, भारत जाग रहा था। अगला अध्याय यह कहानी कहता है कि कैसे यह जागृति आज़ादी का आंदोलन बनी, कैसे मोहनदास गांधी नाम के एक वकील ने अहिंसा को एक राजनीतिक हथियार बनाया, और कैसे आज़ादी की सबसे दर्दनाक क़ीमत — भारत का बँटवारा — चुकानी पड़ी।

XXII.

आज़ादी का आंदोलन और बँटवारे की क़ीमत

भारतीय आज़ादी की कहानी मानव-इतिहास की सबसे असाधारण राजनीतिक उपलब्धियों में से एक है। एक अधीन जनता ने, निहत्थे और कुछ हिसाबों में दस हज़ार-एक से कम होते हुए, ज़्यादातर अहिंसक तरीक़ों से दुनिया के सबसे ताक़तवर साम्राज्यों में से एक को बाहर निकाल दिया। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था, और उसके बाद भी मुश्किल से हुआ है। पर यह साफ़-सुथरा नहीं था। आख़िर में भारत ने जो क़ीमत चुकाई, वह बीसवीं सदी के सबसे बुरे सामूहिक प्रवासों और सबसे बुरे धार्मिक क़त्लेआमों में से एक थी। हमें दोनों हिस्से ईमानदारी से बताने होंगे।

गांधी: सबसे अजीब क्रांतिकारी

भारतीय आज़ादी आंदोलन की केंद्रीय हस्ती मोहनदास करमचंद गांधी थे, जिनका जन्म 1869 में गुजरात में हुआ। किसी भी आम पैमाने पर, उन्हें क्रांतिकारी नहीं होना चाहिए था। वे एक छोटे, दुबले, नम्र वकील थे जिनका वज़न लगभग 50 किलो था। वे एक धोती पहनते थे। वे धीरे बोलते थे। वे उबली सब्ज़ियाँ खाते थे। वे उससे एकदम उलट थे जैसा हम आम तौर पर एक नेता की कल्पना करते हैं।

गांधी ने अपना राजनीतिक दर्शन कुछ हद तक दक्षिण अफ़्रीका में विकसित किया, जहाँ वे 1893 से 1914 तक रहे और वहाँ के भारतीय समुदाय के लिए नागरिक-अधिकार आंदोलन चलाए। वे 1915 में भारत लौटे और धीरे-धीरे देश की सबसे अहम राजनीतिक हस्ती बन गए। उन्होंने 1920 के दशक की शुरुआत में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नेतृत्व सँभाला, और उस मक़ाम से उन्होंने आज़ादी आंदोलन को बदल दिया।

गांधी की केंद्रीय समझ यह थी कि अंग्रेज़ भारत पर भारतीय सहयोग से राज करते हैं। अंग्रेज़ संख्या में बहुत कम थे। वे हर गाँव में पुलिस नहीं रख सकते थे। वे हर रेल नहीं चला सकते थे। वे सिपाही, क्लर्क, कर-वसूलने वाले, डाकपाल, जज के रूप में सेवा देते भारतीयों पर निर्भर थे। अगर भारतीय बस अपना सहयोग वापस ले लें, तो ब्रिटिश व्यवस्था को या तो ढहना पड़ेगा या खुली हिंसा तक बढ़ना पड़ेगा, जो साम्राज्य को उस निर्मम क़ब्ज़े के रूप में बेनक़ाब कर देगी जो वह असल में था।

यही समझ सत्याग्रह की बुनियाद बनी।

> **“सत्याग्रह” क्या है?** यह संस्कृत शब्द गांधी का गढ़ा हुआ है, जिसका मतलब है “सत्य को मज़बूती से थामना” — आम तौर पर इसका अनुवाद “अहिंसक प्रतिरोध” किया जाता है। इसका मतलब चुप बैठना नहीं था; इसका मतलब था सक्रिय, संगठित, जान-बूझकर असहयोग — अन्यायी क़ानून खुलेआम तोड़ना और सज़ा क़बूल करना, बिना पलटवार किए।

सत्याग्रह का मतलब निष्क्रियता नहीं था। इसका मतलब था सक्रिय, संगठित, जान-बूझकर असहयोग। इसका मतलब था अन्यायी क़ानूनों को खुलेआम तोड़ना और सज़ा क़बूल करना। इसका मतलब था ब्रिटिश माल का बहिष्कार। इसका मतलब था अन्यायी कर देने से इनकार। इसका मतलब था हड़ताल पर जाना। इसका मतलब था पलटवार किए बिना पिटाई सहना, क्योंकि बिना जवाब दिए सही गई हर पिटाई पीटने वालों का नैतिक दिवालियापन उजागर कर देती थी।

यह काम कर गया। यह इसलिए काम कर गया क्योंकि गांधी एक बात समझते थे जो ज़्यादातर बाग़ी नहीं समझते। वे समझते थे कि लंबे दौर में, राजनीतिक वैधता सैन्य ताक़त से ज़्यादा अहम है। ब्रिटिश साम्राज्य दावा करता था कि वह भारतीयों के फ़ायदे के लिए, उन्हें सभ्य बनाने के लिए राज कर रहा है। हर बार जब अंग्रेज़ निहत्थे शांत प्रदर्शनकारियों को पीटते, वे यह उजागर कर देते कि यह दावा एक झूठ था। वे दुनिया की नज़र में नैतिक हैसियत खो देते। आख़िरकार वे अपनी ही नज़र में नैतिक हैसियत खो देते। और एक बार जब कोई शासक सत्ता अपना नैतिक औचित्य खो देती है, तो वह राज करते रहने की इच्छा खो देती है।

नमक मार्च, 1930

गांधी की रणनीति का सबसे मशहूर उदाहरण 1930 का नमक मार्च था। भारत में नमक-उत्पादन पर अंग्रेज़ों की इजारेदारी थी और उस पर भारी कर लगता था। नमक इंसानी ज़िंदगी के लिए ज़रूरी है। इस कर ने नमक बहुत-से ग़रीब भारतीयों की पहुँच से बाहर कर दिया था। यह एक छोटा पर दिखने वाला प्रतीक भी था कि अंग्रेज़ों ने खाने पर डाले जाने वाले नमक जैसी बुनियादी चीज़ तक को उपनिवेश बना लिया था।

गांधी ने घोषणा की कि 12 मार्च, 1930 को वे समुद्र तक चलेंगे और समुद्र का पानी सुखाकर ख़ुद अपना नमक बनाएँगे। यह ब्रिटिश क़ानून के तहत ग़ैर-क़ानूनी था। कर चुकाए बिना नमक बनाने वाले को गिरफ़्तार किया जा सकता था।

उन्होंने साबरमती के अपने आश्रम से 78 अनुयायियों के साथ मार्च शुरू किया। वे 24 दिन चले, लगभग 390 किलोमीटर तय किए, और रास्ते भर भारी भीड़ें जुटाते गए। दुनिया भर के समाचार-कैमरे पीछे-पीछे चले। 6 अप्रैल, 1930 को, गांधी दांडी के समुद्र-तट पर पहुँचे, मुट्ठी भर नमकीन कीचड़ उठाई, और ऐसा करते हुए उनकी तस्वीर खींची गई। उन्होंने नमक-क़ानून तोड़ दिया था।

पूरे भारत में, भारतीय अपना नमक ख़ुद बनाने लगे। अंग्रेज़ों ने हज़ारों को गिरफ़्तार किया। जेलें भर गईं। अख़बारों ने नमक बनाते निहत्थे भारतीयों को ब्रिटिश पुलिस से पिटते दिखाया। अंतरराष्ट्रीय प्रेस का कवरेज ब्रिटिश साख के लिए तबाह कर देने वाला था। अमेरिकी अख़बारों तक ने हमदर्दी भरी ख़बरें छापीं। टाइम पत्रिका ने गांधी को 1930 का अपना "पर्सन ऑफ़ द ईयर" चुना।

क्या नमक मार्च ने ब्रिटिश राज तुरंत ख़त्म कर दिया? नहीं। पर इसने कुछ बदल दिया। इसने भारतीयों को दिखाया कि अंग्रेज़ों को खुलेआम चुनौती दी जा सकती है, और इसके बाद भी ज़िंदा रहा जा सकता है। इसने दुनिया को दिखाया कि ब्रिटिश साम्राज्य वह नेक "सभ्य बनाने का मिशन" नहीं था जैसा उसके प्रचारक दावा करते थे। यह मार्च, ब्रिटिश राज को धीरे-धीरे नाजायज़ ठहराने की लंबी प्रक्रिया में एक बड़ा क़दम था।

> *"जब मैं निराश होता हूँ, तो मुझे याद आता है कि पूरे इतिहास में सत्य और प्रेम का रास्ता हमेशा जीता है। तानाशाह और हत्यारे रहे हैं, और कुछ समय के लिए वे अजेय लग सकते हैं, पर अंत में वे*

हमेशा गिरते हैं। ज़रा सोचिए — हमेशा।"

— महात्मा गांधी

दूसरी आवाज़ें और दूसरे तरीक़े

यह याद रखना ज़रूरी है कि गांधी अकेले भारतीय स्वतंत्रता-सेनानी नहीं थे, और अहिंसा अकेला इस्तेमाल हुआ तरीक़ा नहीं था। भारतीय आज़ादी आंदोलन विशाल और विविध था। आइए, कुछ दूसरी बड़ी हस्तियों के नाम लूँ, क्योंकि हर एक ने योगदान दिया।

बाल गंगाधर तिलक। एक पुराने नेता जिन्होंने कहा "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।" उन्होंने 1900 के दशक की शुरुआत में भारतीय राष्ट्रवाद की एक ज़्यादा उग्र धारा का प्रतिनिधित्व किया।

भगत सिंह। एक नौजवान क्रांतिकारी जिसने सशस्त्र प्रतिरोध चुना। उसने 1929 में ब्रिटिश विधानसभा में बम फेंके (जान-बूझकर ऐसे बम जिनसे कोई मौत न हो, ताकि यह मारने के बजाय विरोध का प्रतीक हो) और 1931 में 23 साल की उम्र में अंग्रेज़ों ने उसे फाँसी दे दी। वह आज भी कई नौजवान भारतीयों का नायक है। उसका मानना था कि गांधी के तरीक़े बहुत धीमे और समझौतावादी हैं, हालाँकि वह गांधी का आदर भी करता था।

सुभाष चंद्र बोस। एक कांग्रेस नेता जिन्होंने तरीक़ों को लेकर गांधी से नाता तोड़ा। दूसरे विश्वयुद्ध में, बोस भारत से निकले, नाज़ी जर्मनी और फिर जापान पहुँचे, और "आज़ाद हिंद फ़ौज" बनाई, जो उन भारतीय युद्ध-बंदियों से बनी थी जो धुरी-शक्तियों के साथ मिलकर अंग्रेज़ों से लड़ने को तैयार थे। आज़ाद हिंद फ़ौज ने 1944 में बर्मा में और भारत की सरहदों पर लड़ाई लड़ी। बोस की 1945 में ताइवान में एक विमान-दुर्घटना में मौत हुई, हालाँकि उनके अंजाम पर साज़िश-सिद्धांत आज भी चलते हैं। उनका सैन्य तरीक़ा विवादित है, पर भारतीय आज़ादी के प्रति उनकी लगन नहीं।

बी. आर. आंबेडकर। शानदार दलित वकील और विद्वान, जो सिर्फ़ अंग्रेज़ों से भारतीय आज़ादी के लिए ही नहीं, बल्कि ऊँची-जाति हिंदू उत्पीड़न से दलित आज़ादी के लिए भी लड़े। वे जाति के मुद्दों पर अक्सर गांधी से असहमत रहे। आज़ादी के बाद उन्होंने भारतीय संविधान का बड़ा हिस्सा लिखा। 1956 में उन्होंने अपने लाखों अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म अपना लिया, हिंदू धर्म की जाति-व्यवस्था को ठुकराते हुए। वे बीसवीं सदी के सबसे अहम भारतीय चिंतकों में से एक हैं।

जवाहरलाल नेहरू। अंग्रेज़ी में पढ़े बैरिस्टर जो गांधी के मुख्य सहयोगी और भारत के पहले प्रधानमंत्री बने। वे गांधी से ज़्यादा धर्मनिरपेक्ष और ज़्यादा समाजवादी थे, पर अपने मतभेदों के बावजूद दोनों क़रीबी सहयोगी थे।

सरदार वल्लभभाई पटेल। एक और वरिष्ठ कांग्रेस नेता, अपनी राजनीतिक संगठन-क्षमता के लिए जाने जाते थे। आज़ादी के बाद, गृह मंत्री के रूप में, वे 500 से ज़्यादा रियासतों को नए भारतीय गणराज्य में मिलाने के ज़िम्मेदार थे।

सरोजिनी नायडू, अरुणा आसफ़ अली, भीकाजी कामा, और कई दूसरी औरतें जिन्होंने आज़ादी की लड़ाई में केंद्रीय भूमिकाएँ निभाईं, हालाँकि मुख्यधारा के विवरणों में उन्हें अक्सर कम ध्यान मिलता है।

आज़ादी का आंदोलन करोड़ों लोगों का एक विशाल साझा प्रयास था। गांधी उसका सबसे मशहूर चेहरा थे, पर वे कई में से एक थे। और इस्तेमाल हुए तरीक़े उनकी सख़्त अहिंसा से लेकर बोस के सशस्त्र प्रतिरोध तक फैले थे। ये सारी धाराएँ मिलकर ब्रिटिश राज को अलग-अलग तरीक़ों से नाजायज़ ठहराती गईं।

ब्रिटेन का जाने का फ़ैसला

1945 तक, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद, अंग्रेज़ों को समझ आ गया कि वे अब भारत को रोक नहीं सकते। कई वजहें मिल गई थीं।

युद्ध ने ब्रिटेन को तोड़ दिया था। ब्रिटेन दिवालिया था। उसने अमेरिका से भारी क़र्ज़ लिए थे। उसने नौजवानों की एक पूरी पीढ़ी गँवा दी थी। वह एक दुश्मन साम्राज्य रोकने का ख़र्च नहीं उठा सकता था। अर्थशास्त्री जॉन मेनार्ड कीन्स ने 1946 में हिसाब लगाया कि भारत को सैन्य रूप से रोके रखना ब्रिटिश सरकार के पास जितना था, उससे ज़्यादा महँगा पड़ेगा।

1945–46 के आज़ाद हिंद फ़ौज मुक़दमे। अंग्रेज़ों ने बोस की आज़ाद हिंद फ़ौज के तीन अफ़सरों पर ग़द्दारी का मुक़दमा चलाया। उन्हें उम्मीद थी कि मुक़दमे ब्रिटिश रौब दिखाएँगे। उल्टा, मुक़दमे उल्टे पड़ गए। भारतीय जनता ने अभियुक्तों को नायक बना दिया। युद्ध में अंग्रेज़ों के वफ़ादार रहे भारतीय फ़ौजी तक अपनी वफ़ादारी पर सवाल उठाने लगे। मुक़दमे चुपचाप रोकने पड़े।

1946 का शाही भारतीय नौसेना विद्रोह। ब्रिटिश भारतीय नौसेना के भारतीय नाविकों ने फ़रवरी 1946 में, बंबई और दूसरे बंदरगाहों में बग़ावत कर दी। लगभग 78 जहाज़ और 20,000 नाविक इसमें शामिल थे। विद्रोह आख़िरकार दबा दिया गया, पर इसने एक साफ़ संकेत भेजा कि भारतीय फ़ौजों की वफ़ादारी — जो ब्रिटिश राज की रीढ़ थी — अब मानी नहीं जा सकती।

राजनीतिक दबाव भारी था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग दशकों संगठन कर चुकी थीं। भारत भारी ताक़त के बिना बेक़ाबू था, और ब्रिटेन के पास अब वह ताक़त इस्तेमाल करने की इच्छा नहीं थी। ख़ुद ब्रिटेन में जनमत बदल चुका था। 1945 में चुनी गई मज़दूर सरकार भारत छोड़ने को प्रतिबद्ध थी।

फ़रवरी 1947 में, नए प्रधानमंत्री क्लेमेंट एटली ने घोषणा की कि ब्रिटेन जून 1948 तक भारत छोड़ देगा। फिर आख़िरी वायसराय माउंटबेटन ने तारीख़ आगे बढ़ाकर अगस्त 1947 कर दी। ब्रिटेन जल्दबाज़ी में भारत छोड़ रहा था।

बँटवारा

> **"बँटवारा" (विभाजन) क्या था?** 1947 में जब अंग्रेज़ गए, तो भारत एक देश के रूप में नहीं, बल्कि दो देशों — भारत और पाकिस्तान — के रूप में आज़ाद हुआ। धर्म के आधार पर खींची गई इस रेखा ने इतिहास के सबसे बड़े प्रवासों और सबसे बुरे क़त्लेआमों में से एक को जन्म दिया।

पर भारत साम्राज्य से एक देश के रूप में नहीं जाने वाला था। वह दो देशों के रूप में जाने वाला था। यह आधुनिक इतिहास के सबसे अँधेरे अध्यायों में से एक है।

1930 और 1940 के दशकों भर, मोहम्मद अली जिन्ना की अगुवाई वाली मुस्लिम लीग यह तर्क देती रही थी कि आज़ादी के बाद हिंदू दबदबे से मुसलमानों की रक्षा के लिए, भारत के मुस्लिम-बहुल इलाक़ों को एक अलग देश होना चाहिए। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, गांधी समेत, एक एकजुट भारत के लिए तर्क देती रही जहाँ सब धर्मों को बराबर अधिकार हों।

इस पर लंबी बहस है कि क्या बँटवारा अटल था या टाला जा सकता था। इतिहासकार आयशा जलाल अपनी अहम 1985 की किताब *द सोल स्पोक्समैन* में तर्क देती हैं कि जिन्ना बहुत देर तक असल में बँटवारा नहीं चाहते थे। वे एक संघीय व्यवस्था चाहते थे जो एकजुट भारत के भीतर मुसलमानों को काफ़ी स्वायत्तता दे। कांग्रेस ने, ख़ास तौर पर नेहरू ने, इसे ठुकरा दिया। अंग्रेज़ों ने "फूट डालो और राज करो" की नीतियाँ चलाईं जिन्होंने साम्प्रदायिक पहचानें कड़ी कर दीं। 1947 तक, रुख़ इतने जम चुके थे कि उन्हें पलटा नहीं जा सकता था।

जून 1947 में, माउंटबेटन ने बँटवारे की योजना घोषित की। भारत दो देशों में बाँटा जाएगा — भारत और पाकिस्तान। पाकिस्तान के दो हिस्से होंगे, पश्चिमी पाकिस्तान (आज का पाकिस्तान) और पूर्वी पाकिस्तान (आज का बांग्लादेश), जिनके बीच 1,500 किलोमीटर का भारत था। ठीक-ठीक सरहदें सिरिल रैडक्लिफ़ नाम का एक ब्रिटिश वकील खींचेगा, जो पहले कभी भारत आया ही नहीं था और जिसे यह काम करने के लिए सिर्फ़ पाँच हफ़्ते दिए गए।

14 अगस्त, 1947 को, पाकिस्तान अस्तित्व में आया। 15 अगस्त को, भारत अस्तित्व में आया। भारत को अपनी आज़ादी मिल गई। पर बँटवारे के आस-पास के महीनों में जो हुआ, वह एक तबाही थी।

प्रवास और क़त्लेआम

जब सरहदें घोषित हुईं, तो शायद 1.4 से 1.8 करोड़ लोग दोनों नए देशों के बीच आए-गए। हिंदू और सिख जो अब पाकिस्तान था वहाँ से भारत भागे। मुसलमान जो अब भारत था वहाँ से पाकिस्तान भागे। यह प्रवास ऐसे पैमाने पर था जो मानव-इतिहास में पहले कभी नहीं देखा गया।

और इसके साथ भयानक धार्मिक हिंसा हुई। हिंदू, मुस्लिम और सिख समुदाय, जो सदियों साथ रहे थे, एक-दूसरे पर टूट पड़े। शरणार्थी रेलगाड़ियों पर हमले हुए। पूरे-पूरे गाँव क़त्ल कर दिए गए। औरतों के साथ बलात्कार हुआ, उन्हें अग़वा किया गया, और ज़बरन शादी में धकेला गया। बच्चे माँ-बाप के सामने मार दिए गए। मरने वालों के अनुमान लगभग 5,00,000 से 20 लाख तक हैं। बीच का अनुमान, जो ज़्यादातर इतिहासकार इस्तेमाल करते हैं, लगभग दस लाख है।

पंजाब, मेरा गृह राज्य, सबसे बुरी तरह प्रभावित हुआ। पंजाब बाँटा गया। पूर्वी हिस्सा भारत में रहा। पश्चिमी हिस्सा पाकिस्तान चला गया। पश्चिमी पंजाब की लगभग पूरी सिख और हिंदू आबादी पूरब भागी। पूर्वी पंजाब की लगभग पूरी मुस्लिम आबादी पश्चिम भागी। लाहौर (अब पाकिस्तान में) जैसे शहरों ने अपनी हिंदू और सिख आबादी लगभग एक रात में खो दी। दिल्ली (भारत में) जैसे शहरों ने अपनी ज़्यादातर मुस्लिम आबादी खो दी।

इतिहासकार यासमीन ख़ान अपनी 2007 की किताब *द ग्रेट पार्टिशन* में इस तबाही को विस्तार से दर्ज करती हैं। उनका निष्कर्ष यह है कि हिंसा सिर्फ़ अनायास उमड़ी साम्प्रदायिक नफ़रत नहीं थी। यह अक्सर सभी पक्षों के सशस्त्र गिरोहों द्वारा संगठित, योजनाबद्ध और अंजाम दी गई थी। अंग्रेज़ों ने, बँटवारे की जल्दबाज़ी से हालात बनाकर, हिंसा रोकने की नाममात्र की कोशिश की। माउंटबेटन ने अपने संस्मरणों में डींग मारी कि उसने तय समय पर सत्ता सौंप दी। उसने यह ज़िक्र नहीं किया कि उसने बीसवीं सदी की सबसे बुरी मानवीय तबाहियों में से एक की भी निगरानी की थी।

> *"अंग्रेज़ भारतीय आज़ादी से यह महसूस करते हुए चले गए कि उन्होंने अपना काम कर दिया। वे पीछे दस लाख मुर्दे और मानव-इतिहास का सबसे बड़ा शरणार्थी संकट छोड़ गए।"*
>
> *— यासमीन ख़ान, द ग्रेट पार्टिशन, 2007*

मेरे परिवार की कहानी

मैं यहाँ एक निजी बात जोड़ना चाहता हूँ। मेरा परिवार सिख है। मेरे परिवार के दोनों पक्ष पंजाब से आते हैं। मेरे दादा-दादी ने बँटवारा झेला। मैं ये कहानियाँ सुनते हुए बड़ा हुआ।

मेरी दादी एक नौजवान औरत थीं, उस गाँव में जो अब पाकिस्तान में है, जब हिंसा शुरू हुई। वह अपने परिवार के साथ हफ़्तों पैदल चलकर नए भारत पहुँचीं। उनके कुछ रिश्तेदार नहीं पहुँच पाए। कुछ रास्ते में मुस्लिम भीड़ों ने मार दिए। जब मैं बच्चा था, वह ब्योरों पर बात नहीं करती थीं। वह बस कहती थीं "बहुत बुरा था।" बस इतना ही। मुझे पता था कि ज़ोर नहीं देना।

बहुत-से भारतीय और पाकिस्तानी परिवारों के पास ऐसी कहानियाँ हैं। बँटवारे के घाव तीन पीढ़ियों बाद भी ताज़ा हैं। आज भारत और पाकिस्तान के बीच की राजनीतिक तनातनी, कश्मीर पर चल रहा विवाद और उनके बीच लड़े चार युद्ध समेत, सब 1947 की हिंसा से बहते हैं।

मैं आपको यह मुसलमानों को दोष देने के लिए नहीं बता रहा। हिंसा सब दिशाओं में गई। सिखों ने मुसलमान मारे। मुसलमानों ने सिख मारे। हिंदुओं ने मुसलमान मारे। मुसलमानों ने हिंदू मारे। अपनी जान की क़ीमत पर अपने मुस्लिम पड़ोसियों की रक्षा करते हिंदुओं और सिखों की, और अपने हिंदू तथा सिख पड़ोसियों की रक्षा करते मुसलमानों की असाधारण वीरता की कहानियाँ भी थीं। ऐसे आम लोग थे जिन्होंने अपने दोस्तों को बचाने के लिए सब कुछ दाँव पर लगा दिया। हिंसा अकेली कहानी नहीं थी। पर उन भयानक महीनों के ज़्यादातर समय वही प्रमुख कहानी थी।

उसके बाद

भारत 1950 में अपने संविधान के साथ एक गणराज्य बना, जिसका ज़्यादातर मसौदा बी. आर. आंबेडकर ने तैयार किया। यह पहले दिन से दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र था, सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के साथ। करोड़ों लोगों को, जिनमें ज़्यादातर अनपढ़ थे, वोट का अधिकार दिया गया। कई पश्चिमी पर्यवेक्षकों ने भविष्यवाणी की कि भारतीय लोकतंत्र कुछ ही सालों में ढह जाएगा। यह नहीं ढहा। यह नहीं ढहा है।

भारत के गणराज्य की अपनी समस्याएँ रही हैं। ग़रीबी, भ्रष्टाचार, धार्मिक तनाव, एक दमनकारी जाति-व्यवस्था, पाकिस्तान और भीतरी अलगाववादी आंदोलनों के साथ चलते टकराव। पर यह 75 साल से ज़्यादा से

लोकतांत्रिक और एकजुट बना हुआ है। इसने करोड़ों लोगों को घोर ग़रीबी से बाहर निकाला है। इसने एक अंतरिक्ष कार्यक्रम बनाया जिसने मंगल तक एक अभियान भेजा। इसने महान लेखक, वैज्ञानिक, कारोबारी और खिलाड़ी पैदा किए। यह अब दुनिया का सबसे ज़्यादा आबादी वाला देश है।

पाकिस्तान की राह कठिन रही है। उसने अपना ज़्यादातर इतिहास सैन्य शासन में बिताया है। 1971 में, एक निर्मम युद्ध के बाद, उसका पूर्वी हिस्सा अलग होकर बांग्लादेश बना। देश ने उग्रवाद, आर्थिक संकटों और राजनीतिक अस्थिरता से जूझा है। पर इसने भी असाधारण लोग और समृद्ध संस्कृतियाँ पैदा की हैं, ख़ास तौर पर पंजाबी साहित्य, सूफ़ी संगीत और आधुनिक उर्दू गद्य में।

दोनों देश, अपने मतभेदों के बावजूद, एक बँटवारे का घाव साझा करते हैं जिसने उनका इतिहास गढ़ा है। उनके बीच का रिश्ता दुनिया की सबसे ख़तरनाक भू-राजनीतिक स्थितियों में से एक बना हुआ है। दोनों के पास परमाणु हथियार हैं। दोनों के पास अनसुलझे क्षेत्रीय विवाद हैं।

भाग तीन पर एक नज़र

आइए, इस भाग को उसी सवाल पर लौटकर ख़त्म करूँ जिससे हमने शुरू किया था। हमने अब भारत में यूरोपीय दख़ल का पूरा चाप देख लिया है, 1498 में वास्को द गामा के आने से लेकर 1947 में भारतीय आज़ादी तक। हमने 450 साल की यूरोपीय मौजूदगी देखी, जिसमें 200 साल का सीधा ब्रिटिश राज शामिल था।

इस दौर में भारत ने क्या खोया?

- करोड़ों जानें, ज़्यादातर उन अकालों से जो औपनिवेशिक आर्थिक नीति ने या तो पैदा किए या बदतर बनाए।
- निचोड़ी गई दौलत में अनुमानित 45 ट्रिलियन डॉलर (या कोई छोटी पर फिर भी विशाल रक़म)।
- अपना औद्योगिक आधार, जिसे ब्रिटिश माल के लिए जगह बनाने को जान-बूझकर तोड़ा गया।
- अपनी एकता। भारत दो और फिर तीन देशों में बाँटा गया, उससे आई चलती हिंसा के साथ।
- अपनी वैज्ञानिक और शैक्षिक स्वतंत्रता। दो सदियों तक, भारत को दुनिया एक ब्रिटिश नज़रिए से सीखने पर मजबूर किया गया।

भारत ने क्या पाया?

- कुछ बुनियादी ढाँचा (रेलें, बंदरगाह, सिंचाई व्यवस्थाएँ), सब भारतीय करों से चुकाया गया।
- अंग्रेज़ी एक संपर्क-भाषा के रूप में, जो आधुनिक दुनिया में एक सच्चा फ़ायदा रही है।
- संसदीय लोकतंत्र का एक नमूना, जिसे भारत ने अपनाया और ढाला।
- कुछ क़ानूनी संहिताएँ और शैक्षिक संस्थाएँ, ये भी भारतीय करों से चुकाई गईं।

हिसाब निर्मम है। फ़ायदे, जो भी थे, प्रशासन के औज़ार थे जो कोई भी आज़ाद भारत ख़ुद विकसित कर लेता। नुक़सान पीढ़ियों के, सभ्यता के थे, और आज भी महसूस होते हैं।

और फिर भी। भारत बच गया। हिंदू धर्म बच गया। जिस सभ्यता ने दुनिया को शून्य, योग, शतरंज, आर्यभट और बुद्ध दिए, वह नहीं मरी। वह झुकी। वह लहूलुहान हुई। पर वह टूटी नहीं। वह बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में फिर उभरी, कमज़ोर पर ज़िंदा, और जो खोया था उसे फिर बनाने की धीमी प्रक्रिया शुरू की।

ईसाई धर्म ने भारत को नहीं जीता। इस्लाम, 700 साल की कोशिश के बावजूद, भारत को पूरी तरह नहीं बदल सका। जंगल, नदी और पहाड़ के पुराने देवता आज भी पूजे जा रहे हैं — उपमहाद्वीप पर और दुनिया भर के हिंदू प्रवासियों में लगभग एक अरब लोगों द्वारा। जो मंदिर बचे, खड़े हैं। नए बने हैं। वेद आज भी पुराने तरीक़ों में प्रशिक्षित पुजारियों द्वारा बोले जा रहे हैं। पुरानी दार्शनिक परंपराएँ आज भी पढ़ी और चर्चा की जा रही हैं। सभ्यता चलती रहती है।

इस किताब के भाग चार में, हम उन दूसरी महान सभ्यताओं की ओर मुड़ते हैं जो नहीं झुकीं — चीन और जापान। उनकी कहानियाँ भारत से अलग हैं, पर वे कुछ अहम साझा करती हैं। ये कहानियाँ हैं कि कैसे संस्कृतियाँ बाहर से हमला झेल सकती हैं, कैसे आंशिक रूप से जीती जा सकती हैं, कैसे बुरी तरह दुख भोग सकती हैं, और फिर भी कैसे अपने मूल को बचाकर ज़िंदा रह सकती हैं। ईसाई-पूर्व यूरोप के भूले-बिसरे देवता यह नहीं कर सके। पूरब के पुराने देवता कर सके। क्यों? हम पता लगाएँगे।

— ◆ —

खंड दो समाप्त। भाग चार आगे आएगा।

लवप्रीत सिंह

भूले-बिसरे देवता

वे सभ्यताएँ जो नहीं झुकीं
चीन, जापान, और असली सबक़

लेखक

लवप्रीत सिंह

— भाग चौथा (अंतिम) —
दलील का समापन। तीन सभ्यताएँ उन्हीं ताक़तों के सामने कैसे डटी रहीं, जिन्होंने यूरोप के पुराने देवता मिटा दिए।

आगे बढ़ने से पहले एक बात

हम लगभग पूरा कर चुके हैं। भाग एक से तीन तक, हमने यूरोप का धर्म बदलना, भारत का गहरा इतिहास, और भारत को अपनी छवि में फिर से ढालने की हिंसक यूरोपीय कोशिश देखी। हमने देखा कि कैसे हिंदू धर्म 700 साल के इस्लामी राजनीतिक राज और 200 साल के ब्रिटिश राज से बचा रहा — कमज़ोर हुआ, पर तबाह नहीं।

अब हम भारत के पूरब की ओर देखकर किताब बंद करते हैं। चीन और जापान दो और महान एशियाई सभ्यताएँ हैं, जिन्होंने ईसाई धर्म-प्रचारकों और, अलग-अलग तरीक़ों से, दूसरी विदेशी विचारधाराओं से लगातार धर्म-परिवर्तन की कोशिशें झेलीं। भारत की तरह, वे नहीं बदलीं। आज, चीन आधिकारिक रूप से नास्तिक है, लोक-धर्म, बौद्ध धर्म, ताओवाद और कन्फ़्यूशियसवाद के एक उलझे मेल के साथ। जापान ज़्यादातर शिंतो और बौद्ध है। दोनों देशों में ईसाई धर्म एक छोटा अल्पसंख्यक है। ऐसा क्यों हुआ, इसका ढर्रा हमें कुछ अहम बताता है।

कोरिया पर भी एक झलक डालने लायक़ है, क्योंकि वह बड़ा अपवाद है। कोरिया काफ़ी हद तक ईसाई बन गया। आज लगभग 30 प्रतिशत दक्षिण कोरियाई ख़ुद को ईसाई बताते हैं। कोरिया क्यों, और चीन या जापान क्यों नहीं? इसका जवाब बहुत कुछ बताता है कि असल में कोई सभ्यता वैचारिक रूप से बदले जाने के आगे कमज़ोर किस वजह से पड़ती है।

इन देशों को देखने के बाद, हम सब कुछ संश्लेषण-अध्याय में जोड़ेंगे। हम इस पूरी किताब के केंद्रीय सवाल का जवाब देंगे। यूरोप ने अपने पुराने देवता क्यों खोए, जबकि भारत, चीन और जापान ने अपने बचा लिए? यह हमें धर्म, सभ्यता, और धर्म-परिवर्तन की सीमाओं के बारे में क्या बताता है? और आख़िर में, इस पूरी कहानी का उस दुनिया के लिए क्या मतलब है जिसमें हम आज रहते हैं?

मैंने आपको यहाँ तक लाने में बहुत पन्ने ख़र्च किए हैं। मेरे साथ बने रहने के लिए शुक्रिया। आख़िरी अध्याय इसके लायक़ होंगे।

> **दो शब्द फिर से याद कर लीजिए।** "ईस्वी" यानी ईसा मसीह के जन्म के बाद के साल (जैसे 2026 ईस्वी = आज)। "ई.पू." यानी "ईसा-पूर्व" — उनके जन्म से पहले के साल, जो उल्टे चलते हैं (1000 ई.पू., 200 ई.पू. से ज़्यादा पुराना समय है)।

— ◆ —

लवप्रीत सिंह

भाग चौथे की विषय-सूची

XXIII. चीन: वह सभ्यता जिसने साम्राज्यों को उठते-गिरते देखा

XXIV. ईसाई धर्म चीन को क्यों नहीं बदल सका

XXV. जापान: वह द्वीप जिसने अपना दरवाज़ा बंद कर लिया

XXVI. कोरिया: बड़ा अपवाद, और यह हमें क्या सिखाता है

XXVII. असली सबक़: कुछ सभ्यताएँ क्यों नहीं झुकीं

XXVIII. समापन के विचार और आभार

यह अंतिम भाग है। इसके बाद, किताब पूरी हो जाती है।

“जब विदेशी जहाज़ आता है, तब भी पहाड़ नहीं हिलता।”

— चीनी कहावत, पारंपरिक

— ◆ —

यह किसी धर्म पर हमला नहीं है। यह सिर्फ़ इतिहास की एक सच्ची बात है। इसे खुले मन से पढ़िए।

XXIII.

चीन: वह सभ्यता जिसने साम्राज्यों को उठते-गिरते देखा

चीन ईसाई धर्म में क्यों नहीं बदला, यह समझने के लिए आपको चीन के अपने बारे में सोचने का तरीक़ा समझना होगा। 3,000 साल से ज़्यादा से, चीनी सभ्यता का अपने बारे में एक अटूट भाव रहा है — कि वह "मध्य-राज्य" है। चीनी में चीन का शब्द है "झोंगगुओ", जिसका शाब्दिक मतलब है "केंद्र-देश"। चीनी अपनी सभ्यता को दुनिया का केंद्र मानते थे, जिसके किनारों पर बर्बर और छोटी संस्कृतियाँ सजी हों। यह सिर्फ़ घमंड नहीं था। ज़्यादातर पैमानों पर, दर्ज इतिहास के ज़्यादातर समय, चीन सचमुच धरती की सबसे बड़ी, सबसे अमीर और तकनीक में सबसे आगे सभ्यता था।

चीनी इतिहास का एक झटपट चक्कर

आइए, मैं आपको चीनी इतिहास का सबसे संक्षिप्त मुमकिन चक्कर लगवाऊँ, क्योंकि इसका समय-पैमाना समझ में आना मुश्किल है।

चीनी सभ्यता आम तौर पर लगभग 2000 ई.पू. से शुरू मानी जाती है, पौराणिक श्या राजवंश के साथ। इतिहास से पक्का हुआ पहला राजवंश शांग है, जिसने लगभग 1600 ई.पू. से 1046 ई.पू. तक राज किया। शांग ने एक लेखन-व्यवस्था इस्तेमाल की जो आधुनिक चीनी अक्षरों की सीधी पुरखा है। अगर आप आज चीनी पढ़ सकते हैं, तो आप 3,500 साल पुरानी शांग "भविष्य-हड्डियों" पर खुदे कुछ चिह्न पहचान सकते हैं। धरती पर इतने लगातार इतिहास वाली कोई दूसरी जीवित लेखन-व्यवस्था नहीं है।

शांग के बाद आया झोऊ राजवंश, जो 1046 ई.पू. से 256 ई.पू. तक रहा। यह लगभग 800 साल है। इस दौरान, चीन ने उन ज़्यादातर दार्शनिक परंपराओं को विकसित किया जो उसे हमेशा के लिए गढ़ देंगी। कन्फ़्यूशियस 551 ई.पू. से 479 ई.पू. तक जिए। ताओवाद के संस्थापक लाओज़ी लगभग उसी समय या शायद थोड़ा पहले जिए। मोज़ी, मेंशियस, शुनज़ी और कई दूसरे बड़े विचारक सब इसी दौर के हैं। झोऊ का अंत "युद्धरत राज्यों" नाम की अव्यवस्था में हुआ, जो लगभग 250 साल चली।

221 ई.पू. में, चीन पहली बार निर्मम क़िन सम्राट ने एकजुट किया। क़िन राजवंश छोटा रहा पर अहम था, क्योंकि उसने लेखन, नाप-तौल मानकीकृत किए, और जो आगे चलकर महान दीवार बनेगी उसका निर्माण शुरू किया। क़िन के बाद आया हान राजवंश, 206 ई.पू. से 220 ईस्वी, जो रोमन साम्राज्य से ज़्यादा लंबा चला और अपने शिखर पर लगभग 6 करोड़ लोगों पर राज किया। अगर आपने कभी सोचा कि चीनी लोग ख़ुद को कभी-कभी "हान" क्यों कहते हैं, तो यही वजह है।

हान के बाद बिखराव का दौर आया, फिर 618 से 907 ईस्वी तक महान तांग राजवंश, जो शायद चीनी सभ्यता का सबसे ऊँचा मुक़ाम था। तांग राजधानी चांगआन (आज का शीआन) दुनिया का सबसे बड़ा शहर था,

लगभग दस लाख लोगों के साथ। यह एक विश्व-नागरिक जगह थी जहाँ फ़ारसी सौदागर, भारतीय बौद्ध भिक्षु, अरब व्यापारी और जापानी विद्यार्थी — सब जुटते थे।

फिर आए सोंग राजवंश (960 से 1279), मंगोल युआन राजवंश (1271 से 1368), मिंग राजवंश (1368 से 1644), और छिंग राजवंश (1644 से 1912), जो चीन के गणराज्य बनने से पहले का आख़िरी राजवंश था। चीन ने काग़ज़, छपाई, बारूद, कुतुबनुमा, यांत्रिक घड़ियाँ, काग़ज़ी पैसा, ठेला, छाता, और कई और चीज़ें ईजाद कीं — अक्सर यूरोप से सदियों पहले।

तीन शिक्षाएँ

> **"तीन शिक्षाएँ" क्या हैं?** चीन के तीन मुख्य धार्मिक/दार्शनिक रास्ते — **कन्फ़्यूशियसवाद** (समाज, परिवार और नैतिकता का दर्शन), **ताओवाद** (प्रकृति के साथ बहने वाला रहस्यवादी दर्शन), और **बौद्ध धर्म** (भारत से आया)। पश्चिम के उलट, एक ही चीनी इंसान अक्सर तीनों एक साथ मानता था।

चीन के धार्मिक और दार्शनिक जीवन को कभी-कभी "तीन शिक्षाएँ" कहा जाता है (चीनी में "सान जियाओ")। ये हैं कन्फ़्यूशियसवाद, ताओवाद और बौद्ध धर्म। पश्चिम के उलट, जहाँ धर्म आम तौर पर अनन्य होते हैं (आप या तो ईसाई हैं या यहूदी या मुसलमान, तीनों नहीं), पारंपरिक चीनी लोग अक्सर एक ही साथ तीनों मानते थे। वे परिवार की नैतिकता के लिए कोई कन्फ़्यूशियसी ग्रंथ देखते, ख़ुशक़िस्मती की दुआ के लिए ताओवादी मंदिर जाते, और अंतिम संस्कार के लिए बौद्ध भिक्षु बुलाते। एक ही इंसान, एक ही हफ़्ते।

कन्फ़्यूशियसवाद धर्म से ज़्यादा एक सामाजिक दर्शन है। कन्फ़्यूशियस ने सिखाया कि समाज तब सबसे अच्छा चलता है जब लोग अपनी सही भूमिकाएँ निभाएँ। शासक को समझदारी से राज करना चाहिए। पिता को अच्छा पिता होना चाहिए। बेटे को पिता का आदर करना चाहिए। दोस्तों को वफ़ादार होना चाहिए। यह 2,000 साल से ज़्यादा चीनी राज की आधिकारिक विचारधारा रही। ज़्यादातर चीनी सरकारी अधिकारियों को कन्फ़्यूशियसी ग्रंथों के ज्ञान की परीक्षा पास करनी पड़ती थी।

ताओवाद, जिसकी नींव लाओज़ी ने रखी और झुआंगज़ी ने विकसित किया, रहस्यवादी और प्रकृति-केंद्रित है। इसकी केंद्रीय अवधारणा है "ताओ", जिसका मतलब है "रास्ता" या "पथ" — ब्रह्मांड की प्राकृतिक व्यवस्था। ताओवाद सादगी, सहजता, और प्रकृति के बहाव से लड़ने के बजाय उसके साथ बहना सिखाता है। ताओवाद ने ही दुनिया को ताई ची, छीगोंग, फ़ेंग शुई, और कई दूसरे अभ्यास दिए।

बौद्ध धर्म चीन में भारत से, रेशम मार्ग के रास्ते, पहली सदी ईस्वी में कभी आया। तांग राजवंश तक, यह बहुत प्रभावशाली बन चुका था। चीनी बौद्ध धर्म अपनी अनोखी दिशाओं में विकसित हुआ, जिसमें ज़ेन (चीनी में "चान") शामिल है, जो ग्रंथ-पढ़ाई से ज़्यादा ध्यान और तुरंत की अंतर्दृष्टि पर ज़ोर देता है। चीनी बौद्ध धर्म भारतीय बौद्ध धर्म जैसा नहीं था। वह चीनी सांस्कृतिक तत्वों के साथ घुल-मिल गया, जिनमें पुरखों का सम्मान और प्रकृति के बारे में ताओवादी विचार शामिल थे।

मिलकर, तीन शिक्षाओं ने एक बारीक धार्मिक और दार्शनिक तंत्र बनाया। इसमें चीनी लोक-धर्म की अंतर्निहित परत और जोड़ दीजिए — जिसमें पुरखा-पूजा, घरेलू देवता, स्थानीय आत्माएँ, और अलग-अलग

राज्यों तथा पेशों के देवताओं का विशाल समूह शामिल है — और आपके पास एक ऐसा धार्मिक नक़्शा है जो अविश्वसनीय रूप से समृद्ध है और अविश्वसनीय रूप से बदलना मुश्किल।

जेसुइट आते हैं: मातेओ रिच्ची

> **"जेसुइट" कौन थे?** जेसुइट कैथोलिक पादरियों का एक संगठन था, जो अपनी विद्वत्ता और धर्म-प्रचार के लिए जाना जाता था। वे आम धर्म-प्रचारकों से ज़्यादा पढ़े-लिखे होते थे और स्थानीय भाषा-संस्कृति सीखकर लोगों को बदलने की कोशिश करते थे।

चीन को बदलने की ईसाइयों की पहली गंभीर कोशिश जेसुइटों ने की। इनमें सबसे मशहूर मातेओ रिच्ची नाम का एक इतालवी पादरी था, जो 1582 में चीन पहुँचा और 1610 में अपनी मौत तक 28 साल वहाँ रहा। रिच्ची धार्मिक इतिहास की सबसे दिलचस्प हस्तियों में से एक है, और उसकी कहानी हमें बहुत कुछ बताती है कि ईसाई धर्म चीन में क्यों नहीं घुस पाया।

रिच्ची शानदार था। उसने सालों चीनी सीखी, आख़िरकार उस पर इतनी पकड़ बना ली कि वह ऐसे शास्त्रीय चीनी निबंध लिख सकता था जिनकी विद्वान तारीफ़ करते। उसने कन्फ़्यूशियसी ग्रंथ पढ़े और उन्हें गहराई से समझा। पढ़े-लिखे अभिजात वर्ग में साख बनाने के लिए वह कन्फ़्यूशियसी विद्वान के चोग़े पहनता था। वह यूरोपीय गणित, खगोल-विज्ञान और घड़ी बनाने का ज्ञान इस तरीक़े के तौर पर लाया कि चीनियों को पश्चिमी सीख की क़ीमत दिखाई दे।

रिच्ची ने वह कोशिश की जो किसी धर्म-प्रचारक ने पहले सचमुच नहीं की थी। उसने ईसाई धर्म को कन्फ़्यूशियसवाद का विरोधी नहीं, बल्कि उससे मेल खाता हुआ पेश करने की कोशिश की। उसने तर्क दिया कि प्राचीन चीनी मूल रूप से वही ईश्वर पूजते थे जो ईसाई, कि चीनी शब्द "शांग दी" (अक्सर "परम प्रभु" अनुवादित) ईसाई ईश्वर को ही कहता है, और कि पुरखा-सम्मान एक नागरिक रस्म है, बुत-पूजा नहीं।

इस तरीक़े को "समायोजन" कहते हैं। रिच्ची ईसाई धर्म को कुछ ऐसा दिखाने की कोशिश कर रहा था जिसे चीनी बुद्धिजीवी अपनी सांस्कृतिक पहचान छोड़े बिना क़बूल कर सकें। यह एक रचनात्मक रणनीति थी।

और यह कुछ हद तक काम कर गई। रिच्ची ने सबसे ऊँचे स्तर पर कुछ चीनी विद्वान बदले, जिनमें कुछ ऐसे थे जो मिंग राजवंश के दरबार के अहम सदस्य बने। उसकी मौत तक, शायद कुछ हज़ार चीनी ईसाई थे। 1700 तक, शायद 2,00,000। यह 10 करोड़ से कहीं ज़्यादा के देश में बहुत छोटा था, पर यह सचमुच की प्रगति थी।

चीनी रीति-विवाद

फिर यह सब ढह गया। यह क्यों ढहा, यह धार्मिक इतिहास की सबसे अहम और सबसे कम जानी कहानियों में से एक है। इसे "चीनी रीति-विवाद" कहते हैं।

रिच्ची के बाद चीन आए दूसरे कैथोलिक धर्म-प्रचारक, ज़्यादातर डोमिनिकन और फ़्रांसिस्कन, जेसुइट जो कर रहे थे उसे देखकर सिहर उठे। उन्होंने कहा कि जेसुइट असल में चीनियों को ईसाई बना ही नहीं रहे। वे बस चीनियों को अपने मौजूदा रिवाजों में ईसाई धर्म जोड़ने दे रहे हैं। उन्होंने तर्क दिया कि कन्फ़्यूशियसी पुरखा-

सम्मान बुत-पूजा है। उन्होंने तर्क दिया कि ईसाई ईश्वर को "शांग दी" या "तियान" (स्वर्ग) अनुवादित करना धर्म-विरुद्ध है।

विवाद रोम पहुँचा। लगभग एक सदी, पोप और कैथोलिक धर्म-वैज्ञानिक बहस करते रहे कि क्या जेसुइट समायोजन क़बूल करने लायक़ है। 1704 में, पोप क्लेमेंट ग्यारहवें ने जेसुइटों के ख़िलाफ़ फ़ैसला दिया। उसने चीनी ईसाइयों को अपने पुरखों का सम्मान करने से मना किया। उसने ईश्वर के लिए "शांग दी" या "तियान" के इस्तेमाल पर रोक लगाई। उसने हुक्म दिया कि चीन में ईसाई धर्म बिल्कुल यूरोपीय ईसाई धर्म जैसा दिखे।

यह मिशन के लिए एक प्रलय थी। चीन का कांग्शी सम्राट, जो ईसाई धर्म के प्रति दोस्ताना रहा था और जिसने उसे शाही दरबार में भी मानने दिया था, ग़ुस्से में आ गया। उसने 1692 का एक मशहूर "सहिष्णुता का फ़रमान" लिखा था, जो चीन में ईसाई धर्म मानने की इजाज़त देता था। पर जब उसे पता चला कि पोप चीनी ईसाइयों को पुरखा-रस्मों के ज़रिए अपने माँ-बाप और दादा-दादी का सम्मान करने से मना कर रहा है, तो उसने अपना रुख़ पलट दिया।

> *"इस घोषणा को पढ़कर, मैंने नतीजा निकाला है कि पश्चिमी लोग सचमुच छोटी सोच के हैं। उनसे तर्क करना नामुमकिन है, क्योंकि वे बड़े मुद्दों को नहीं समझते जैसे हम चीन में समझते हैं। कोई पश्चिमी चीनी रचनाओं में पारंगत नहीं है, और उनकी टिप्पणियाँ अक्सर अविश्वसनीय और हास्यास्पद होती हैं।"*
>
> *— चीन का कांग्शी सम्राट, 1721 का फ़रमान, पोप के फ़ैसले के बाद*

1724 तक, कांग्शी के बेटे योंगज़ेंग सम्राट ने चीन में ईसाई धर्म पूरी तरह प्रतिबंधित कर दिया, सिर्फ़ बीजिंग को छोड़कर। धर्म-प्रचारक निकाल दिए गए। चीनी ईसाई ज़मीन के नीचे चले गए। रिच्ची से लगभग 150 साल पहले शुरू हुई पूरी कोशिश लगभग पूरी तरह उलट गई। जेसुइट समायोजन रणनीति, जो चीन को बदलने का उनका सबसे अच्छा मौक़ा थी, चीनी विरोध से नहीं, बल्कि उन कैथोलिक यूरोपीय धर्म-वैज्ञानिकों ने तोड़ी जो किसी भी समझौते को बर्दाश्त नहीं कर सके।

यह ईसाई मिशनों के इतिहास के सबसे अहम पलों में से एक है। अगर पोप-व्यवस्था जेसुइटों को अपना काम जारी रखने देती, तो आज चीन में दक्षिण कोरिया जैसा एक बड़ा ईसाई अल्पसंख्यक होता। इसके बजाय, चीनी सरकार ने नतीजा निकाला कि विदेशियों से धार्मिक मामलों पर तर्क नहीं किया जा सकता, और दरवाज़ा बंद हो गया।

उन्नीसवीं सदी: ईसाई धर्म ज़ोर-ज़बरदस्ती से लौटता है

> **"अफ़ीम युद्ध" क्या थे?** 1800 के दशक में ब्रिटेन और फ़्रांस ने चीन पर युद्ध थोपे ताकि उसे अपने बंदरगाह यूरोपीय व्यापार के लिए खोलने, और चीनी समाज को तबाह कर रहे ब्रिटिश अफ़ीम-व्यापार को क़ानूनी बनाने पर मजबूर किया जा सके। इन्हें "अफ़ीम युद्ध" कहते हैं।

ईसाई धर्म 1800 के दशक में चीन लौटा, पर बहुत अलग तरीक़े से। इस समय तक, चीन पर यूरोपीय ताक़तें "अफ़ीम युद्धों" (1839 से 1842 और 1856 से 1860) में हमला कर रही थीं। ब्रिटेन और फ़्रांस ने, मुख्य रूप से, सैन्य ताक़त से चीन को मजबूर किया कि वह अपने बंदरगाह यूरोपीय व्यापार के लिए खोले, चीनी समाज

को बर्बाद कर रहे ब्रिटिश अफ़ीम-व्यापार को क़ानूनी बनाए, और यूरोपियों को ख़ास सहूलियतें दे। इन सहूलियतों में ईसाई धर्म-प्रचारकों का चीन में आज़ादी से घूमने का अधिकार, और चीनी धर्म बदले लोगों का कुछ चीनी क़ानूनों से छूट पाने का अधिकार शामिल था।

यह चीन में ईसाई धर्म के लिए एक तबाही थी। अब यह धर्म विदेशी हमले, अफ़ीम, और चीनी राज के अपमान से जुड़ गया। धर्म बदले चीनियों को अक्सर ऐसे ग़द्दार माना जाता जो अपने ही देश के ख़िलाफ़ विदेशी हमलावरों से जा मिले।

एक अजीब और ख़ूनी अध्याय भी आया। 1840 के दशक में, होंग श्यूछ्वान नाम का एक चीनी आदमी कुछ ईसाई धर्म-प्रचार पर्चे पढ़कर यक़ीन कर बैठा कि वह ईसा मसीह का छोटा भाई है। उसने एक धार्मिक आंदोलन शुरू किया जो छिंग राजवंश के ख़िलाफ़ एक पूरे-पैमाने के विद्रोह में बदल गया। यह "ताइपिंग विद्रोह" था, जो 1850 से 1864 तक चला। यह ईसाई धर्म का एक अजीब, मिला-जुला रूप था। अपने शिखर पर इसने ज़्यादातर दक्षिण चीन पर क़ब्ज़ा किया और शायद 3 करोड़ अनुयायी रखे। छिंग राजवंश ने आख़िरकार यूरोपीय मदद से इसे कुचला।

ताइपिंग विद्रोह मानव-इतिहास के सबसे जानलेवा गृहयुद्धों में से एक था। मरने वालों के अनुमान 2 करोड़ से 7 करोड़ तक हैं। ज़्यादातर आधुनिक इतिहासकार संख्या लगभग 3 करोड़ रखते हैं। तुलना के लिए — अमेरिकी गृहयुद्ध, जो लगभग उसी दशक में लड़ा गया, ने लगभग 7,50,000 लोग मारे। ताइपिंग विद्रोह लगभग 40 गुना ज़्यादा जानलेवा था।

1800 के दशक के आख़िर में जब आम चीनी लोग ईसाई धर्म के बारे में सोचते, तो यही उनके मन में आता — एक ऐसा आंदोलन जिसने उनके करोड़ों देशवासी मारे, जिसकी अगुवाई एक ऐसा आदमी कर रहा था जो ख़ुद को ईसा का भाई समझता था, और जो कुछ हद तक यूरोपीय हथियारों से लड़ा गया। यह उन शांत जेसुइट विद्वानों वाली ईसाई धर्म की छवि नहीं थी जो दो सदी पहले बीजिंग आए थे। ताइपिंग विद्रोह ने पीढ़ियों तक चीन में ईसाई धर्म के लिए कुआँ ज़हरीला कर दिया।

बॉक्सर विद्रोह और ईसाई-विरोधी प्रतिक्रिया

1900 तक, विदेशी धर्म-प्रचारकों के ख़िलाफ़ चीनी लोगों का ग़ुस्सा एक विस्फोट तक बन गया था। "बॉक्सर" नाम का एक किसान आंदोलन, जो मूल रूप से एक मार्शल-आर्ट और लोक-धर्म समाज था, छिंग राजवंश (जिसे वे विदेशियों से निपटने में बहुत कमज़ोर मानते थे) और ख़ुद विदेशी धर्म-प्रचारकों — दोनों के ख़िलाफ़ उठ खड़ा हुआ।

1900 की गर्मियों में, बॉक्सरों ने बीजिंग में विदेशी दूतावासों को घेर लिया, और उत्तरी चीन भर में कई सौ विदेशी धर्म-प्रचारक तथा हज़ारों चीनी ईसाई मार दिए। बॉक्सर आख़िरकार आठ विदेशी ताक़तों की एक अंतरराष्ट्रीय फ़ौज ने कुचले, जिनमें ब्रिटेन, फ़्रांस, अमेरिका, जापान और रूस शामिल थे। विदेशी फ़ौजों ने बीजिंग लूटा और चीनी सरकार से भारी हर्जाना माँगा।

बॉक्सर विद्रोह को कभी-कभी पश्चिमी इतिहासों में चीनी ग़ैर-तार्किक विदेशी-नफ़रत के उदाहरण के तौर पर पेश किया जाता है। चीनी तरफ़ से देखने पर, यह अलग दिखता है। 60 साल अपमानित होने, हमले झेलने, अफ़ीम क़ानूनी बनाने पर मजबूर होने, ऐसे धर्म-प्रचारकों को क़बूल करने पर मजबूर होने के बाद जो अक्सर

विदेशी ताक़तों के एजेंट की तरह काम करते थे — चीनी किसान आख़िरकार उठ खड़े हुए। उनके तरीक़े निर्मम थे। पर जिन हालात के जवाब में वे उठे, वे भी निर्मम थे।

1900 तक, 300 साल की कोशिश के बाद, चीन में ईसाई धर्म के पास 40 करोड़ की आबादी में शायद 20 लाख चीनी धर्म-बदले लोग थे। यह एक प्रतिशत से भी कम है। यूरोपीय मिशन-संस्थाओं के भारी निवेश, यूरोपीय सैन्य ताक़त के समर्थन, और माते ओ रिच्ची जैसे शानदार लोगों के काम के बावजूद, ईसाई धर्म चीनी समाज में किसी मायने वाले ढंग से नहीं घुस पाया। चीनियों ने उसे पाया, जाँचा, और काफ़ी हद तक ठुकरा दिया।

क्यों? यही अगले अध्याय का सवाल है।

XXIV.

ईसाई धर्म चीन को क्यों नहीं बदल सका

चीन में ईसाई धर्म के नाकाम रहने की कुछ वजहें वही हैं जो भारत में थीं। कुछ अलग हैं। आइए, इन्हें ध्यान से देखें।

वजह एक: कन्फ़्यूशियसवाद पहले से नैतिक जगह भर चुका था

यूरोप में, ईसाई धर्म ने पेगन धर्मों की जगह कुछ हद तक इसलिए ली क्योंकि ईसाई धर्म वह चीज़ देता था जो पुराने धर्म नहीं देते थे — एक साफ़, लिखित नैतिक व्यवस्था; करुणा, क्षमा और ईश्वर के सामने आत्माओं की बराबरी का धर्म-विज्ञान; राज्यों के पार फैला विश्वासियों का समुदाय। राजनीतिक रूप से बँटे और नैतिक रूप से पतले समाजों के लिए ये सचमुच काम के योगदान थे।

चीन के पास यह सब पहले से था — कन्फ़्यूशियसवाद के रूप में। कन्फ़्यूशियसी नैतिकता अब तक विकसित नैतिक-सोच की सबसे बारीक व्यवस्थाओं में से एक है। इसमें साफ़ शिक्षाएँ हैं कि अच्छा इंसान कैसे बनें, अच्छा परिवार-सदस्य कैसे बनें, अच्छा नागरिक कैसे बनें, और समझदारी से राज कैसे करें। इसके ग्रंथों — कन्फ़्यूशियस के *एनालेक्ट्स, मेंशियस* और दूसरों — पर 2,000 साल से अध्ययन और टीका हो रही है। जब ईसाई धर्म-प्रचारक नैतिक शिक्षाएँ देते दिखे, चीनी विद्वान नम्रता से सुनते और फिर पूछते कि उनकी शिक्षाएँ कन्फ़्यूशियस के पहले से कहे पर क्या सुधार करती हैं। धर्म-प्रचारक जवाब देने में जूझते।

मसलन, कन्फ़्यूशियसी "स्वर्ण नियम" ईसाई स्वर्ण नियम से 500 साल से ज़्यादा पुराना है। कन्फ़्यूशियस ने लगभग 500 ई.पू. में कहा "जो तुम ख़ुद के लिए न चाहो, वह दूसरों पर मत थोपो।" ईसाई रूप, "दूसरों के साथ वैसा करो जैसा तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें," मत्ती की इंजील से लगभग 70 ईस्वी का है। ईसाई रूप कहने के ढंग में ज़्यादा सकारात्मक है, पर बुनियादी नैतिक समझ वही है।

वजह दो: राज्य धार्मिक था, पर ऐसे ढंग से नहीं जिसे ईसाई धर्म इस्तेमाल कर सके

मध्ययुगीन यूरोप में, चर्च और राज्य भागीदार थे। पोप सम्राटों को ताज पहनाता था। राजा राज करने का दैवी अधिकार दावा करते थे। धर्म राजनीतिक ताक़त को जायज़ ठहराता था। इसका मतलब था कि जब राजा बदलता, उसकी प्रजा को पीछे आना पड़ता।

चीन में, चीज़ें अलग ढंग से बनी थीं। चीनी सम्राट को "स्वर्ग का पुत्र" कहा जाता था और उसका राज "स्वर्ग के अधिदेश" से जायज़ ठहराया जाता था। पर यह ईसाई मायने में कोई निजी धार्मिक रिश्ता नहीं था। यह ज़्यादा एक दार्शनिक और रस्मी पद जैसा था। सम्राट ब्रह्मांडीय सामंजस्य बनाए रखने के लिए "स्वर्ग के मंदिर" में रस्में करता था। वह किसी ख़ास धर्म का निजी विश्वासी नहीं था जैसे ईसाई राजा होते थे।

इसका मतलब था कि ईसाई धर्म-प्रचारक "राजाओं को बदलने" वाली वह रणनीति इस्तेमाल नहीं कर सकते थे जो यूरोप में इतनी अच्छी चली थी। भले ही कोई चीनी सम्राट ख़ुद ईसाई धर्म में दिलचस्पी ले ले (और कुछ ने ली, कांग्शी सम्राट समेत), वह बस चीन को ईसाई घोषित नहीं कर सकता था। चीनी धार्मिक जीवन का पूरा ढाँचा अलग था। इसमें ऊपर-से-नीचे का कोई पदानुक्रम नहीं था जिसे पकड़ा जा सके। यह इस मामले में हिंदू धर्म जैसा ही था — हमला करने के लिए कोई केंद्र नहीं।

वजह तीन: ईसाई धर्म अनन्य वफ़ादारी माँगता था

यह सबसे बड़े मुद्दों में से एक है। चीनी धर्म स्वभाव से बहुलवादी था। एक चीनी इंसान अपनी नैतिकता में कन्फ़्यूशियसी, अपने निजी अभ्यास में ताओवादी, अंतिम संस्कार में बौद्ध हो सकता था, और घर में पुरखा-पूजा का स्थान भी रख सकता था। इन परंपराओं को मिलाना सामान्य और सम्मानित था।

ईसाई धर्म माँग करता था कि धर्म बदले लोग बाक़ी सब कुछ छोड़ दें। कोई बौद्ध प्रार्थना नहीं। कोई ताओवादी ताबीज़ नहीं। कोई पुरखा-स्थान नहीं। सिर्फ़ ईसा। यह एक बहुत बड़ी सांस्कृतिक माँग थी। इसका मतलब था ख़ुद को अपनी पारिवारिक परंपराओं, अपनी सामुदायिक रस्मों, और सदियों की विरासती समझ से काट लेना। ज़्यादातर चीनियों के लिए, क़ीमत बस बहुत ज़्यादा थी।

चीनी रीति-विवाद ने इसे और बुरा कर दिया। जब पोप ने 1704 में फ़ैसला दिया कि चीनी ईसाई अपने मरे माँ-बाप और दादा-दादी का सम्मान तक नहीं कर सकते, तो वह चीनी धर्म बदले लोगों से वह करने को कह रहा था जिसे वे एक गहरी नैतिक चूक मानते थे। कन्फ़्यूशियसी सोच में, अपने पुरखों का सम्मान करना इंसान होने के सबसे बुनियादी कर्तव्यों में से एक है।

वजह चार: चीनी जानते थे कि विदेशी धर्म के बारे में झूठ बोलते हैं

1800 और 1900 के दशकों तक, चीनियों के पास सदियों का अनुभव था कि विदेशी राजनीतिक और आर्थिक फ़ायदा साधते हुए धार्मिक अधिकार का दावा करते हैं। शांति और प्रेम का ईसाई संदेश इस बात से झुठलाया जाता था कि ईसाई सरकारें चीन को अफ़ीम क़ानूनी बनाने पर मजबूर कर रही थीं, ईसाई फ़ौजें बीजिंग लूट रही थीं, ईसाई धर्म-प्रचारक अपने धर्म बदले लोगों के लिए ख़ास क़ानूनी सहूलियतें दावा कर रहे थे।

यहाँ साख की समस्या भारत से भी बुरी थी। चीन पूरी तरह उपनिवेश नहीं बना था। चीन अब भी ख़ुद को एक महान सभ्यता मानता था जो अस्थायी रूप से कमज़ोर थी। चीनी बुद्धिजीवी देख सकते थे कि धर्म-प्रचारक क्या कहते हैं और उनकी सरकारें क्या करती हैं, और अपना नतीजा निकाल सकते थे। कई ने नतीजा निकाला कि ईसाई धर्म बस पश्चिमी ताक़त का एक और औज़ार है, भोले-भाले लोगों को बहलाने के लिए आध्यात्मिक भाषा में सजाया हुआ।

वजह पाँच: साम्यवादी आलोचना सबसे ख़राब वक़्त पर आई

> **"मार्क्सवाद/साम्यवाद" क्या है?** कार्ल मार्क्स का एक राजनीतिक-आर्थिक विचार, जिसने धर्म को "जनता की अफ़ीम" कहा — यानी एक ऐसा औज़ार जिससे शासक ग़रीबों को शांत और अपने शोषण को क़बूल करते रखते हैं। साम्यवादी विचारधारा आधिकारिक रूप से नास्तिक होती है।

1900 के दशक की शुरुआत में, ठीक जब ईसाई धर्म शैक्षिक और चिकित्सा मिशन-काम से चीन में कुछ नई पैठ बना रहा था, मार्क्सवाद आ गया। कार्ल मार्क्स ने मशहूर तौर पर धर्म को "जनता की अफ़ीम" कहा था। उसने तर्क दिया कि धर्म शासकों का एक औज़ार है, जिससे मज़दूर-वर्गों को शांत और अपने शोषण को क़बूल करते रखा जाता है।

1910 और 1920 के दशकों के नौजवान चीनी बुद्धिजीवियों के लिए, जो समझने की कोशिश कर रहे थे कि उनकी कभी की ताक़तवर सभ्यता विदेशी ताक़तों से क्यों अपमानित हो रही है, मार्क्सवाद ने एक स्पष्टीकरण दिया। उन्होंने तय किया कि धर्म समस्या का हिस्सा है। ख़ास तौर पर ईसाई धर्म विदेशी ज़ालिमों का धर्म था। चीनी साम्यवादी पार्टी, जो 1921 में बनी, शुरू से ही आधिकारिक रूप से नास्तिक थी।

जब साम्यवादियों ने 1949 में चीनी गृहयुद्ध जीता, उन्होंने धर्म को अमित्र नज़र से देखा। विदेशी धर्म-प्रचारक निकाल दिए गए। चीनी ईसाई गिरजाघर राज्य ने अपने हाथ ले लिए। 1966 से 1976 की सांस्कृतिक क्रांति ख़ास तौर पर कठोर थी। हर तरह के धार्मिक स्थल — ईसाई, बौद्ध, ताओवादी और कन्फ़्यूशियसी — पर हमला हुआ। मंदिर तबाह हुए। पुजारी और भिक्षु पीटे या मारे गए।

1980 के दशक से, जब धर्म कुछ हद तक उदार किया गया, चीन में ईसाई धर्म असल में बढ़ा है। आज चीनी ईसाइयों की संख्या के अनुमान 3 करोड़ से 10 करोड़ तक हैं, इस पर निर्भर करते हुए कि आप ज़मीन-के-नीचे के घरेलू गिरजाघर गिनते हैं या नहीं। पर यह 1.4 अरब के देश में अब भी एक छोटा अल्पसंख्यक है।

वजह छह: चीनी सभ्यतागत आत्मविश्वास

मैं सबसे गहरी वजह पर ख़त्म करना चाहता हूँ, जिसे नापना मुश्किल है पर जो असली है। चीनी इतने लंबे समय से एक महान सभ्यता रहे हैं कि उनके अपने तौर-तरीक़ों में एक गहरा, अक्सर अचेतन आत्मविश्वास है। उन्होंने साम्राज्यों को उठते-गिरते देखा है। उन्होंने मंगोलों को आते देखा और मंगोलों को जाते देखा। उन्होंने मांचुओं को ख़ुद को जीतते और फिर ख़ुद में समाते देखा। उन्होंने भारत से बौद्ध धर्म को आते और चीनी बनते देखा। उन्होंने सब कुछ देखा है।

जब ईसाई धर्म-प्रचारक हमेशा की मुक्ति का वादा लेकर आए, बशर्ते चीनी अपने पुरखे छोड़ ईसा को अपना लें, तो कई चीनी बुद्धिजीवियों ने जो जवाब दिया वह असल में एक नम्र पर दृढ़ "नहीं, धन्यवाद" जैसा था। वे संकीर्ण-मन नहीं थे। उन्होंने ईसाई धर्म पढ़ा। उन्होंने उस पर सोचा। उन्होंने उसके दावों पर विचार किया। और विचार के बाद, उनमें से ज़्यादातर ने नतीजा निकाला कि ईसाई धर्म उन विदेशियों के लिए एक बिल्कुल ठीक धर्म है जिन्हें इसकी ज़रूरत है, पर ऐसा कुछ नहीं जो चीन के पास पहले से जो है उस पर सुधार करता हो।

> *"चीन में, विदेशी धर्म एक पुरानी, गहरी, और सुसंगठित सांस्कृतिक रोग-प्रतिरोधक व्यवस्था का सामना करते हैं। यह व्यवस्था जो काम का हो उसे सोख लेती है और जो नहीं हो उसे ठुकरा देती है। ईसाई धर्म, मौजूदा विश्वासों के पूरे प्रतिस्थापन की अपनी माँग के साथ, सोखा नहीं जा सका। सो वह ठुकरा दिया गया।"*
>
> *— जोनाथन डी. स्पेंस, द मेमरी पैलेस ऑफ़ मातेओ रिच्ची, 1984*

जोनाथन स्पेंस शायद बीसवीं सदी के आख़िर में चीन के सबसे बड़े पश्चिमी इतिहासकार थे। उनकी बात कुछ अहम पकड़ती है। चीनी धर्म-विरोधी नहीं थे। वे विदेशी-विरोधी नहीं थे। उन्होंने सदियों पहले भारत से बौद्ध धर्म सोख लिया था और उसे अपना बना लिया था। वे ईसाई धर्म भी सोख सकते थे। पर ईसाई धर्म सोखे जाने से इनकार करता रहा। वह सब कुछ बदलने पर अड़ा रहा। और जब साफ़ हो गया कि सौदा यही है, चीनियों ने हाथ खींच लिया।

चीन में ईसाई धर्म पर एक और अध्याय लिखना बाक़ी है — जो अभी हो रहा है। पिछले 40 साल में, ईसाई धर्म चीन में किसी भी दूसरे देश से ज़्यादा तेज़ी से बढ़ा है। कुछ विद्वान अनुमान लगाते हैं कि 2050 तक 25 करोड़ चीनी ईसाई हो सकते हैं। पर यह आम चीनी धर्म-बदले लोगों के ज़रिए ज़मीन-के-नीचे के गिरजाघरों में हो रहा है, अक्सर चीनी राज्य से गहरी ठनी हुई, और जो ईसाई रूप बढ़ रहा है वह भारी चीनी रंग का है। यह सचमुच ईसाई धर्म का चीन को जीतना है, या चीन का ईसाई धर्म को अपने ढाँचे में सोख लेना — यह भविष्य के इतिहासकारों के लिए सवाल है।

फ़िलहाल, आइए दूसरी महान पूर्वी एशियाई सभ्यता की ओर मुड़ें जिसने धर्म-परिवर्तन का प्रतिरोध किया — जापान। वहाँ की कहानी और भी नाटकीय है।

XXV.

जापान: वह द्वीप जिसने अपना दरवाज़ा बंद कर लिया

जापान में ईसाई धर्म की कहानी धार्मिक इतिहास की सबसे असाधारण कहानियों में से एक है। ईसाई धर्म 1549 में जापान आया, लगभग 60 साल तेज़ी से फैला, फिर दो सदियों से ज़्यादा हिंसक रूप से दबाया गया, लगभग पूरी तरह ज़मीन-के-नीचे चला गया, और आख़िरकार 1800 के दशक में एक छोटे अल्पसंख्यक के रूप में फिर उभरा, जो आज भी वैसा ही है। आज, एक प्रतिशत से भी कम जापानी ईसाई हैं। यह तब है जब जापान एक अमीर, आधुनिक, लोकतांत्रिक देश है जो 1800 के दशक के आख़िर से पश्चिमी असर के लिए खुला रहा है। जापान ने ईसाई धर्म इतनी पूरी तरह क्यों ठुकराया? इसका जवाब पूरी कहानी के सबसे दिलचस्प मामलों में से एक है।

जापान पर एक झटपट पृष्ठभूमि

> **"शिंतो" और "कामी" क्या हैं?** शिंतो जापान का अपना मूल धर्म है — कोई संस्थापक नहीं, कोई असली धर्म-ग्रंथ नहीं। यह "कामी" का धर्म है — आत्माएँ या दैवी शक्तियाँ जो पहाड़ों, नदियों, पेड़ों, चट्टानों और पुरखों में बसती हैं। यह ठीक वैसा ही प्रकृति-धर्म है जैसा ईसाई-पूर्व यूरोप में था।

जापान एशिया के पूर्वी तट से दूर द्वीपों की एक कतार है। यह हज़ारों साल से बसा हुआ है, और जापानी सभ्यता जैसी हम जानते हैं वह ज़्यादातर पिछले 1,500 साल में विकसित हुई। जापान चीनी सभ्यता से ख़ूब प्रभावित हुआ, पर उसने हमेशा अपनी अलग पहचान बनाए रखी। जापानियों ने चीन से चीनी लेखन-व्यवस्था, कन्फ़्यूशियसी नैतिकता, और महायान बौद्ध धर्म उधार लिए, पर इन सबको जापानी संस्कृति में फ़िट होने के लिए ढाला।

जापान का अपना मूल धर्म भी है, जिसे शिंतो कहते हैं। शिंतो दुनिया के सबसे दिलचस्प धर्मों में से एक है क्योंकि इसका कोई संस्थापक नहीं, हमारे आम मायने में कोई धर्म-ग्रंथ नहीं, और कोई असली धर्म-विज्ञान नहीं। यह "कामी" का धर्म है, जो एक जापानी शब्द है जिसका अच्छा अनुवाद नहीं होता। कामी आत्माएँ या दैवी शक्तियाँ हैं जो चीज़ों में रहती हैं — पहाड़ों, नदियों, पेड़ों, चट्टानों और पुरखों समेत। शिंतो सोच में करोड़ों कामी हैं।

जाना-पहचाना लगता है? लगना चाहिए। शिंतो ठीक उसी तरह का प्रकृति-धर्म है जैसा पेगन यूरोपीय ईसाई धर्म से पहले मानते थे। पवित्र वन, पवित्र पहाड़, पवित्र नदियाँ, पुरखा-आत्माएँ। जापानी इसे कभी नहीं खोए। उनके पास आज भी यह है। आज भी, जापानी शिंतो पुजारी नई इमारतों और कारोबारों को आशीर्वाद देते हैं। माउंट फ़ूजी पवित्र है। जापान में 80,000 से ज़्यादा सक्रिय शिंतो मंदिर हैं। ज़्यादातर जापानी ख़ुद को धार्मिक नहीं कहते, फिर भी वे कुछ ऐसा करते हैं जो स्पष्ट रूप से वही धर्म है जो यूरोप के पास 2,000 साल पहले था।

चीनियों की तरह, जापानी भी आम तौर पर बहुलवादी थे। एक जापानी इंसान शिंतो शिशु-आशीर्वाद के साथ पैदा हो सकता था, शिंतो या ईसाई शैली की रस्म से शादी कर सकता था, और बौद्ध अंतिम संस्कार पा सकता था। जापानी सोच में ये विरोधाभास नहीं हैं। ये अलग मौक़ों के लिए अलग औज़ार हैं।

फ़्रांसिस ज़ेवियर आता है, 1549

जापान में पहला ईसाई धर्म-प्रचारक फ़्रांसिस ज़ेवियर नाम का एक स्पेनी जेसुइट था, जो 1549 में आया। वह पुर्तगालियों के अधीन काम कर रहा था, जो कुछ साल पहले जापान पहुँचकर व्यापार-संबंध बना चुके थे। ज़ेवियर एक असाधारण आदमी था। उसने जापान में सिर्फ़ दो साल बिताए, पर भारी छाप छोड़ी। उसने जापानियों की एशिया में मिले सबसे सुसंस्कृत और सक्षम लोगों के तौर पर तारीफ़ की।

ज़ेवियर के जाने के बाद, दूसरे जेसुइटों ने काम जारी रखा। उन्होंने जापानी सीखी। उन्होंने जापानी संस्कृति पढ़ी। उन्हें पहले कुछ जापानी सामंती सरदारों (जिन्हें "दाइम्यो" कहते हैं) ने आदर के साथ अपनाया, जिन्हें पश्चिमी तकनीक, ख़ास तौर पर बंदूक़ों, में दिलचस्पी थी।

बढ़ोतरी तेज़ थी। 1582 तक, ज़ेवियर के आने के सिर्फ़ 33 साल बाद, शायद 2,00,000 जापानी ईसाई थे। 1614 तक, संख्या शायद 7,00,000 तक पहुँच गई, लगभग 2 से 2.5 करोड़ के देश में। यह पूरी आबादी का लगभग तीन प्रतिशत है, 65 साल में हासिल। तुलना के लिए — 450 साल के ब्रिटिश राज के बाद, भारत में ईसाई धर्म अब भी सिर्फ़ 2.3 प्रतिशत है। जेसुइटों ने जापान में कुछ ख़ास छू लिया था।

कई दाइम्यो ईसाई बने, जिनमें क्यूशू के ओमुरा सुमितादा जैसे कुछ ताक़तवर भी थे, जिसने अपना पूरा इलाक़ा ईसाई कर दिया और नागासाकी का बंदरगाह जेसुइटों को सौंप दिया। 1500 के दशक के आख़िर तक, ईसाई धर्म कुछ पीढ़ियों में जापान का एक बड़ा धर्म बनने की राह पर था।

शिकंजा शुरू होता है: हिदेयोशी

फिर सब कुछ बदल गया। 1587 में, जापानी शासक तोयोतोमी हिदेयोशी, जो उस वक़्त असल में जापान का तानाशाह था, ने एक फ़रमान जारी किया जिसमें सारे विदेशी धर्म-प्रचारकों को निकालने का हुक्म था। उसने पहले इसे सख़्ती से लागू नहीं किया, पर नीति तय हो गई।

हिदेयोशी ईसाई धर्म के ख़िलाफ़ क्यों हुआ? कई वजहें।

पहली, उसे शक हो गया था कि ईसाई धर्म स्पेनी और पुर्तगाली साम्राज्यवाद का औज़ार है। उसने सुना था कि स्पेनियों ने फ़िलीपींस में क्या किया — उसे जीतकर ज़बरदस्ती ईसाई बना दिया। उसने सुना था कि पुर्तगालियों ने गोवा में क्या किया। उसने सही देखा कि जहाँ कैथोलिक धर्म-प्रचारक जाते, अक्सर कैथोलिक साम्राज्य पीछे आते। वह नहीं चाहता था कि जापान फ़िलीपींस या गोवा जैसा बने।

दूसरी, ईसाई जापानी दाइम्यो कभी-कभी अपने इलाक़ों में बौद्ध मंदिर और शिंतो तीर्थस्थल तबाह कर रहे थे। यह एक समस्या थी क्योंकि यह जापान के गहरे सांस्कृतिक और धार्मिक ताने-बाने पर ऐसे हमला था जिसे शासक ख़तरनाक मानते थे।

तीसरी, जेसुइट जापानी ग़ुलामों के व्यापार में शामिल थे, ख़ास तौर पर जापानी औरतें पुर्तगाली जहाज़ों को बेची और पूरे एशिया में निर्यात की जा रही थीं। यह एक नैतिक कलंक था जिसे जापानी सरकार बेहद आपत्तिजनक मानती थी।

चौथी, ईसाई जापानी सत्ता के प्रति वफ़ादारी से ज़्यादा अपने धर्म के प्रति बहुत संगठित और बहुत वफ़ादार थे। उन्हें एक ऐसे देश में राजनीतिक जोखिम माना जाता था जो अभी एक सदी का गृहयुद्ध झेलकर एक ही शासक के नीचे एकजुट हो रहा था।

नागासाकी के छब्बीस शहीद, 1597

1597 में, हिदेयोशी आख़िरकार ईसाई धर्म के ख़िलाफ़ निर्णायक रूप से बढ़ा। उसने क्योतो में 26 ईसाई गिरफ़्तार कराए, जिनमें छह यूरोपीय फ़्रांसिस्कन भिक्षु, तीन जापानी जेसुइट, और तीन छोटे लड़कों समेत 17 जापानी आम लोग शामिल थे। उन्हें 800 किलोमीटर पैदल नागासाकी ले जाया गया, जो जापानी ईसाई धर्म का केंद्र था। वहाँ, 5 फ़रवरी, 1597 को, उन्हें बंदरगाह की ओर देखती एक पहाड़ी पर सलीब पर चढ़ाया गया।

यह ईसाई मिशनों के इतिहास की सबसे मशहूर घटनाओं में से एक है। 26 शहीद बाद में कैथोलिक चर्च ने संत घोषित किए। पर 26 शहीदों का सलीब पर चढ़ाया जाना बस शुरुआत थी। 1598 में हिदेयोशी की मौत के बाद, हालात बेहतर नहीं, बल्कि बदतर हुए। तोकुगावा शोगुनशाही, जिसने 1603 में सत्ता ली और 265 साल जापान पर राज करेगी, ने उत्पीड़न और तेज़ कर दिया।

> **"शोगुन" और "शोगुनशाही" क्या हैं?** शोगुन जापान का असली सैन्य शासक होता था (सम्राट तब ज़्यादातर एक प्रतीक भर था)। शोगुनशाही यानी शोगुन के ख़ानदान का राज। तोकुगावा शोगुनशाही ने 1603 से 265 साल जापान पर राज किया।

महान उत्पीड़न, 1614 से 1639

1614 में, तोकुगावा शोगुन तोकुगावा इयेयासु ने ईसाई धर्म पर एक व्यापक प्रतिबंध जारी किया। सारे धर्म-प्रचारकों को देश से बाहर जाने का हुक्म दिया गया। सारे जापानी ईसाइयों को अपना धर्म त्यागने का हुक्म दिया गया। गिरजाघर तबाह किए गए। अगले 25 साल जो हुआ, वह इतिहास के सबसे पूरी तरह किए गए धार्मिक उत्पीड़नों में से एक था।

सबसे मशहूर तरीक़ा था "फ़ुमि-ए", जिसका मतलब है "रौंदने वाली तस्वीर"। अधिकारी ईसा या मरियम की उकेरी हुई तस्वीर वाली एक ताँबे की प्लेट रखते। शक के ईसाइयों को उस तस्वीर पर पैर रखने का हुक्म दिया जाता। अगर वे इनकार करते, तो उन्हें ईसाई पहचानकर गिरफ़्तार कर लिया जाता। अगर वे उस पर पैर रख देते, तो उन्हें धर्म-त्यागी मानकर बख़्श दिया जाता। तस्वीर पर पैर रखने वाले ज़्यादातर लोग बेहद मानसिक तनाव में ऐसा करते, यह जानते हुए कि उन्हें अपने लिए पवित्र किसी चीज़ का अपमान करने पर मजबूर किया जा रहा है।

जो धर्म त्यागने से इनकार करते, उन्हें मनवाने के लिए यातना दी जाती। जापानी अधिकारी अपनी रचनात्मक क्रूरता के लिए मशहूर हो गए। ईसाइयों को उन्ज़ेन के गर्म झरनों के खौलते पानी में फेंका जाता। उन्हें मल से

भरे गड्ढों में उल्टा लटकाया जाता, कभी-कभी उनकी नसें आधी काटकर ताकि मरने की प्रक्रिया कई दिन खिंचे। उन्हें ज़िंदा जलाया जाता। इस दौर में लगभग 3,000 से 5,000 जापानी ईसाई अपना धर्म त्यागने से इनकार करने पर शहीद हुए। और भी कई धर्म त्यागने पर मजबूर किए गए। जापान का ईसाई समुदाय, जो शायद 7,00,000 लोगों तक पहुँचा था, व्यवस्थित ढंग से तबाह कर दिया गया।

शिमाबारा विद्रोह, 1637 से 1638

उत्पीड़न ने आख़िरकार एक बेबस विद्रोह भड़काया। 1637 में, क्यूशू के शिमाबारा इलाक़े में, किसान — जो ज़्यादातर पूर्व ईसाई थे — अपने दाइम्यो के ख़िलाफ़ उठ खड़े हुए, जो उन पर निर्मम कर लगा रहा था। उनके साथ रोनिन (बिना मालिक के सामुराई) और पूर्व ईसाई सामुराई जुड़ गए। बाग़ी हारा नाम के एक क़िले में जुटे, जहाँ उन्होंने सलीबें और ईसाई झंडे उठाए।

तोकुगावा शोगुनशाही ने शायद 1,25,000 आदमियों की एक विशाल फ़ौज बाग़ियों के ख़िलाफ़ भेजी, जिनकी संख्या लगभग 27,000 से 37,000 मर्द, औरतें और बच्चे थी। घेराबंदी चार महीने चली। जब क़िला आख़िरकार अप्रैल 1638 में गिरा, शोगुनशाही ने अंदर के लगभग हर किसी को मार दिया, औरतों और बच्चों समेत। मरने वालों के अनुमान 30,000 से 40,000 तक हैं।

शिमाबारा विद्रोह ने तोकुगावा सरकार के लिए यह पक्का कर दिया कि ईसाई धर्म स्वभाव से राजनीतिक बग़ावत से जुड़ा है। जवाब और भी कठोर था। जापान को बाहरी दुनिया से असरदार ढंग से सील कर दिया गया।

साकोकू: बंद देश, 1639 से 1853

> **"साकोकू" क्या था?** इसका मतलब है "बंद देश"। 1639 से जापान ने ख़ुद को बाहरी दुनिया से लगभग पूरी तरह बंद कर लिया — कोई विदेशी अंदर नहीं आ सकता था, कोई जापानी बाहर नहीं जा सकता था। मुख्य वजह ईसाई धर्म की वापसी रोकना थी।

1639 में, शोगुनशाही ने आख़िरी साकोकू फ़रमान जारी किए। इन क़ानूनों के तहत, कोई विदेशी जापान में नहीं घुस सकता था और कोई जापानी बाहर नहीं जा सकता था। एकमात्र छूट नागासाकी बंदरगाह में देजिमा द्वीप पर एक छोटी डच व्यापार-चौकी, और चीन तथा कोरिया के साथ सीमित व्यापार था। बिना इजाज़त आने वाले विदेशी मार दिए जाते। विदेश से लौटने की कोशिश करने वाले जापानी भी मार दिए जाते।

यह नीति 214 साल बनाए रखी गई। 1639 से 1853 तक, जापान बाहरी दुनिया के लिए लगभग पूरी तरह बंद रहा। वजह लगभग पूरी तरह ईसाई धर्म की वापसी रोकना थी। तोकुगावा सरकार ने तय कर लिया था कि विदेशियों के लिए खुले रहने की क़ीमत है — धर्म-परिवर्तन का जोखिम जो जापानी पहचान को कमज़ोर करेगा। उन्होंने अलगाव चुना।

इन 214 सालों में, जापान में ईसाई धर्म ज़मीन-के-नीचे चला गया। कुछ ईसाई, जिन्हें "काकुरे किरिशितान" (छिपे ईसाई) कहते हैं, कई पीढ़ियों तक चुपके से अपना धर्म मानते रहे। उनके पास कोई पुजारी नहीं, कोई गिरजाघर नहीं, और बाक़ी ईसाई दुनिया से कोई संपर्क नहीं था। उन्होंने ईसाई अभ्यास के अपने रूप

विकसित किए, अक्सर बौद्ध और शिंतो तत्वों के साथ ख़ूब मिले हुए। वे चुपचाप जुटते, टूटी-फूटी लातीनी और पुर्तगाली में याद की हुई प्रार्थनाएँ बोलते, और अपना धर्म अपने बच्चों को आगे पहुँचाते।

जब पश्चिमी ताक़तों ने 1850 के दशक में जापान को फिर खोलने पर मजबूर किया, तो लौटे धर्म-प्रचारक यह देखकर दंग रह गए कि नागासाकी के आस-पास दूर-दराज़ इलाक़ों में ये छिपे ईसाई समुदाय अब भी मौजूद हैं।

> *"दो सौ साल से ज़्यादा, जापानी ईसाइयों ने पूरी गोपनीयता में अपना धर्म ज़िंदा रखा। यह इतिहास में धार्मिक सहनशक्ति के सबसे उल्लेखनीय मामलों में से एक है।"*
>
> *— एंदो शूसाकु, जापानी कैथोलिक उपन्यासकार, साइलेंस के लेखक, 1966*

आधुनिक जापान और आज ईसाई धर्म

जापान को 1853 में फिर खुलने पर मजबूर किया गया, जब कमोडोर मैथ्यू पेरी के नेतृत्व में अमेरिकी नौसेना के जहाज़ एदो खाड़ी में आए और व्यापार का अधिकार माँगा। तोकुगावा शोगुनशाही आख़िरकार गिरी, उसकी जगह 1868 में मेइजी सरकार आई, जिसने जापान को तेज़ आधुनिकीकरण की राह पर डाला। आख़िरकार धार्मिक आज़ादी क़ायम हुई। ईसाई धर्म-प्रचारक लौटे।

पर सत्रहवीं सदी में ईसाई धर्म ने जापान को जो क़ीमत चुकाई थी, उसकी सांस्कृतिक याद नहीं मिटी। आधुनिक जापान में ईसाई धर्म बढ़ा, पर धीरे। आज, लगभग 1.5 प्रतिशत जापानी ख़ुद को ईसाई बताते हैं। 12.5 करोड़ के देश में लगभग 19 लाख जापानी ईसाई हैं।

यह तब है जब जापान एशिया के सबसे आधुनिक, शहरीकृत और पश्चिमीकृत देशों में से एक है। जापानियों ने पश्चिमी कपड़े, पश्चिमी तकनीक, पश्चिमी राजनीतिक संस्थाएँ, और पश्चिमी लोकप्रिय संस्कृति अपनाई है। उन्होंने पश्चिमी धर्म नहीं अपनाया। जापानी शायद दुनिया में एक ऐसे समाज का सबसे चौंकाने वाला उदाहरण हैं जिसने धर्म बदले बिना आधुनिकीकरण किया।

आज, सर्वे दिखाते हैं कि लगभग 80 प्रतिशत जापानी किसी ख़ास धर्म से ख़ुद को नहीं जोड़ते। फिर भी लगभग 80 प्रतिशत नववर्ष पर शिंतो रस्में करते हैं, शिंतो या ईसाई रस्मों से शादी करते हैं, और बौद्ध अंतिम संस्कार पाते हैं। जापान का धर्म ज़्यादातर माना नहीं, बल्कि किया जाता है। पुराने देवता आज भी वहीं हैं — तीर्थस्थलों में, पहाड़ों में, और रोज़ की छोटी रस्मों में। वे कभी गए ही नहीं।

यही है जो यूरोप ने खोया। यही है जो जापान ने बचाया।

XXVI.

कोरिया: बड़ा अपवाद, और यह हमें क्या सिखाता है

मैं कोरिया पर एक अध्याय बिताना चाहता हूँ क्योंकि कोरिया बड़ा अपवाद है। सारे बड़े एशियाई देशों में, कोरिया अकेला है जहाँ ईसाई धर्म एक बड़ा धर्म बना। आज लगभग 30 प्रतिशत दक्षिण कोरियाई ईसाई हैं। यह डेढ़ करोड़ से ज़्यादा लोग हैं। सियोल में दुनिया के कुछ सबसे बड़े गिरजाघर हैं। कई देशों में कोरियाई ईसाई धर्म-प्रचारक काम कर रहे हैं।

यह कैसे हुआ? कोरिया क्यों, और जापान या चीन क्यों नहीं? कोरियाई मामले को समझना असल में यह साफ़ कर देता है कि दूसरे एशियाई देश क्यों नहीं बदले। यह दिखाता है कि बड़े पैमाने पर धर्म-परिवर्तन सचमुच काम करने के लिए कौन-सी शर्तें ज़रूरी हैं।

कोरियाई संदर्भ

कोरिया चीन और जापान के बीच एक प्रायद्वीप है। ऐतिहासिक रूप से, यह दोनों के साये में रहा। चीनी संस्कृति, कन्फ़्यूशियसवाद, बौद्ध धर्म, और चीनी लेखन-व्यवस्था — सब सदियों पहले चीन से कोरिया में आए। कोरिया ने अपनी सभ्यता, अपना साहित्य, अपनी तकनीक विकसित की (कोरिया ने असल में लगभग 1234 ईस्वी में चलती धातु-टाइप ईजाद की, यूरोप में गुटेनबर्ग से लगभग 200 साल पहले), पर उसे हमेशा दो बड़े पड़ोसियों के बीच एक हद तक कमज़ोरी महसूस होती रही।

1800 के दशक के आख़िर और 1900 के दशक की शुरुआत तक, कोरिया एक बेबस हालत में था। देश को विदेशी ताक़तों के लिए खुलने पर मजबूर किया गया था। जापान एक आक्रामक साम्राज्यवादी ताक़त के रूप में उभर रहा था और आख़िरकार 1910 से 1945 तक पूरे कोरिया को उपनिवेश बना लेगा। बहुत-से कोरियाई महसूस करते थे कि उनका देश तबाह हो रहा है। पारंपरिक शासक वर्ग, "यांगबान", देश की रक्षा में नाकाम रहा था।

कोरियाई कन्फ़्यूशियसवाद पूर्वी एशिया में सबसे सख़्त और सबसे कठोर में से एक रहा था। यांगबान ने कोरिया पर एक बहुत पदानुक्रमित, दमनकारी सामाजिक व्यवस्था थोपी थी। निचले वर्ग के कोरियाई के पास ऊपर उठने का कोई असली रास्ता नहीं था। औरतों के बहुत कम अधिकार थे।

सो जब ईसाई धर्म 1800 के दशक के आख़िर में गंभीरता से कोरिया आया, तो उसे चीन या जापान से बहुत अलग हालत मिली। उसे एक ऐसा देश मिला जहाँ पारंपरिक व्यवस्था बदनाम हो चुकी थी, जहाँ बहुत-से लोग विकल्प ढूँढ रहे थे, और जहाँ ईसाई धर्म को आधुनिक, आज़ाद देशों (ख़ास तौर पर अमेरिका) के धर्म के तौर पर पेश किया जा सकता था।

प्रतिरोध के औज़ार के रूप में ईसाई धर्म

यहाँ चीन या जापान से एक अहम फ़र्क़ है। कोरिया में, ईसाई धर्म कोरियाई राष्ट्रवाद और जापानी साम्राज्यवाद के प्रतिरोध से जुड़ गया, न कि कोरिया पर विदेशी दबदबे से। अमेरिकी प्रोटेस्टेंट धर्म-प्रचारकों (और कुछ कैथोलिक) को जापानी उपनिवेशकों के ख़िलाफ़ कोरिया का दोस्त माना गया। उन्होंने स्कूल, अस्पताल और विश्वविद्यालय चलाए। उन्होंने बाइबल का कोरियाई में अनुवाद किया, चीनी अक्षरों के बजाय कोरियाई वर्णमाला (जिसे "हांगुल" कहते हैं) इस्तेमाल करके, जो पारंपरिक अभिजात वर्ग इस्तेमाल करता था। इससे ईसाई धर्म आम कोरियाई लोगों के लिए, औरतों समेत, ऐसे पहुँच में आ गया जैसे कन्फ़्यूशियसी ग्रंथ नहीं थे।

कोरियाई ईसाइयों ने जापानी राज के प्रतिरोध में अहम भूमिकाएँ निभाईं। 1919 का "पहली मार्च आंदोलन", जापानी क़ब्ज़े के ख़िलाफ़ एक शांतिपूर्ण देशव्यापी विरोध, काफ़ी हद तक ईसाई नेताओं ने आयोजित किया। 1945 में जापान से कोरिया की मुक्ति के बाद, ईसाई धर्म कोरियाई आज़ादी और आधुनिकीकरण से जुड़ गया।

1950 से 1953 के कोरियाई युद्ध ने हालात और बढ़ाए। उत्तर कोरिया ने, साम्यवादी राज में, ईसाई धर्म को निर्ममता से दबाया। हज़ारों ईसाई दक्षिण भागे। दक्षिण कोरिया, जिसे अमेरिका का समर्थन था, और ज़्यादा ईसाई बना। शीत-युद्ध में ईसाई धर्म का आज़ाद, समृद्ध पक्ष से जुड़ाव उसके आकर्षण को और मज़बूत करता गया।

युद्ध के बाद, दक्षिण कोरिया भारी आर्थिक विकास से गुज़रा। 1980 और 1990 के दशकों तक, यह दुनिया की सबसे तेज़ बढ़ती अर्थव्यवस्थाओं में से एक था। ईसाई कोरियाई मध्यवर्ग अर्थव्यवस्था के साथ बढ़ा। विशाल गिरजाघर (मेगा-चर्च) उग आए। आज, कोरिया प्रति-व्यक्ति लगभग किसी भी दूसरे देश से ज़्यादा ईसाई धर्म-प्रचारक विदेश भेजता है।

कोरियाई मामला क्या सिखाता है

ईसाई धर्म कोरिया में कामयाब क्यों हुआ, और चीन, जापान या भारत में क्यों नहीं? कोरियाई मामले को ध्यान से देखने पर, कई कारक उभरते हैं।

पहला, पारंपरिक व्यवस्था बदनाम हो चुकी थी। चीन में, ईसाई धर्म के आने पर कन्फ़्यूशियसी राज अब भी ताक़तवर था। जापान में, तोकुगावा व्यवस्था मज़बूत थी। भारत में, हिंदू धर्म गहरी जड़ों वाला और विविध था। कोरिया में, जोसियन कन्फ़्यूशियसी राज स्पष्ट रूप से नाकाम हो चुका था। बहुत-से कोरियाई एक विकल्प ढूँढ रहे थे।

दूसरा, ईसाई धर्म राष्ट्रीय मुक्ति से जुड़ा था, विदेशी दबदबे से नहीं। यह इस बात का पूरा उलटा है कि चीन या भारत में ईसाई धर्म कैसे देखा जाता था।

तीसरा, भाषा-रणनीति काम कर गई। अमेरिकी धर्म-प्रचारकों ने हांगुल इस्तेमाल किया, जिसे 1400 के दशक में ईजाद किया गया था पर कन्फ़्यूशियसी अभिजात वर्ग औरतों की लिपि कहकर नीचा देखता था। बाइबल का हांगुल में अनुवाद करके, ईसाइयों ने आम कोरियाई लोगों को उनकी अपनी रोज़मर्रा की भाषा में एक पवित्र ग्रंथ की पहुँच दी।

चौथा, सामाजिक खुलापन असली था। ईसाई धर्म ने कोरियाई औरतों को ईश्वर के सामने बराबरी ऐसे दी जैसे कन्फ़्यूशियसवाद नहीं देता था। उसने निचले वर्ग के कोरियाई को सम्मान ऐसे दिया जैसे यांगबान व्यवस्था नहीं देती थी।

पाँचवाँ, चीनी रीति-विवाद जैसा कुछ नहीं था। कोरिया में प्रोटेस्टेंट धर्म-प्रचारक, चीन और जापान की कैथोलिक तबाहियों से सीखकर, ज़्यादा लचीले थे। उन्होंने कोरियाई ईसाइयों को बदले हुए रूपों में पुरखा-सम्मान जारी रखने दिया। उन्होंने अतीत से पूरा नाता तोड़ने की माँग नहीं की।

छठा, शीत-युद्ध ने ईसाई धर्म को अनोखा भू-राजनीतिक समर्थन दिया। साम्यवादी उत्तर कोरिया ने धर्म दबाया। पूँजीवादी दक्षिण कोरिया, गहराई से ईसाई अमेरिका से जुड़ा, ने ईसाई धर्म को फलने-फूलने की जगह दी।

कोरिया बड़ी दलील का प्रति-उदाहरण क्यों नहीं है

कुछ लोग कोरिया की ओर इशारा करके कह सकते हैं कि यह इस दलील को ग़लत साबित करता है कि महान एशियाई सभ्यताओं को नहीं बदला जा सकता था। पर मुझे लगता है कोरिया असल में दलील को मज़बूत करता है। ज़रा उन शर्तों को देखिए जो धर्म-परिवर्तन के काम करने के लिए कोरिया में एक साथ आनी ज़रूरी थीं — एक बदनाम पारंपरिक व्यवस्था, राष्ट्रीय मुक्ति से जुड़ाव, पहुँच वाली भाषा, सामाजिक खुलापन, धर्म-प्रचारकों का लचीलापन, और सहायक भू-राजनीति।

चीन, जापान और भारत में इनमें से कोई शर्त नहीं थी, या सिर्फ़ कुछ थीं। इसके अलावा, कोरिया हमें कुछ अहम भी दिखाता है। जहाँ ईसाई धर्म कामयाब हुआ भी, वहाँ वह एक कोरियाई रूप में कामयाब हुआ। कोरियाई ईसाई धर्म अमेरिकी ईसाई धर्म नहीं है। उसकी अपनी तीव्रता, अपना धर्म-विज्ञान, अपना सांस्कृतिक चरित्र है। जब धर्म संस्कृतियाँ पार करते हैं, तो वे पाने वाली संस्कृति से बदल जाते हैं।

> *"कोरियाई प्रोटेस्टेंट ईसाई धर्म आधुनिक इतिहास के सबसे कामयाब धार्मिक प्रत्यारोपणों में से एक है, पर यह अपने मूल तक कोरियाई भी है। यह कोई विदेशी धर्म नहीं है। यह एक कोरियाई धर्म है जो बाहर से आया और पूरी तरह नए सिरे से ढाला गया।"*
>
> *— सेबास्टियन किम, फ़ुलर सेमिनरी में धर्म-विज्ञान के प्रोफ़ेसर, कोरियाई ईसाई धर्म पर*

यहाँ सबक़ यह है कि धर्म संस्कृतियों के पार बदले जा सकते हैं, पर सिर्फ़ तब जब ख़ास शर्तें सही हों, और तब भी जो धर्म उभरता है वह आम तौर पर विदेशी स्रोत और स्थानीय संस्कृति का एक मिश्रण होता है। शुद्ध प्रतिस्थापन, जो यूरोप में पेगन से ईसाई धर्म में बदलाव के समय हुआ, असल में इतिहास में काफ़ी दुर्लभ है। इसके लिए असामान्य शर्तें चाहिए।

यूरोप में वे असामान्य शर्तें क्या थीं? यूरोप पूरे धार्मिक प्रतिस्थापन के आगे इतना कमज़ोर क्यों था, जबकि ज़्यादातर दूसरी बड़ी सभ्यताएँ नहीं थीं? यही हमारे संश्लेषण-अध्याय का सवाल है।

XXVII.

असली सबक़: कुछ सभ्यताएँ क्यों नहीं झुकीं

हम इस किताब में एक लंबा रास्ता तय कर चुके हैं। हमने यूरोप का एक हज़ार साल में धीमा धर्म-बदलना देखा। हमने दो हज़ार साल से ज़्यादा भारत का प्रतिरोध देखा। हमने चीन में ईसाई धर्म का अस्वीकार और जापान में हिंसक अस्वीकार देखा। हमने कोरिया को बड़े अपवाद के तौर पर देखा। अब मैं यह सब जोड़कर केंद्रीय सवाल का जवाब देना चाहता हूँ।

यूरोप के पुराने धर्म क्यों मरे, जबकि भारत, चीन और जापान के पुराने धर्म बच गए?

मुझे लगता है छह बड़ी वजहें हैं, और वे साथ मिलकर काम करती हैं। आइए, इन्हें रखूँ।

वजह एक: विकेंद्रीकरण

मैंने यह किताब भर में कई बार कहा है, पर यह केंद्रीय जगह की हक़दार है। यूरोप के पेगन धर्म असल में एक धर्म नहीं थे। वे कई थे। जर्मन धर्म सेल्ट धर्म से अलग था, जो स्लाव धर्म से अलग था, जो यूनानी और रोमन धर्मों से अलग था। हर एक विकेंद्रित था, स्थानीय पंथों, स्थानीय पुजारियों और स्थानीय पवित्र स्थलों के साथ।

पर अहम बात यह है। इनमें से किसी ने भी ईसाई धर्म के अपने प्रतिरोध का तालमेल बिठाने के लिए कोई मज़बूत केंद्रीय संगठन विकसित नहीं किया। पेगन धर्म का कोई पोप नहीं था। पुराने देवताओं का कोई वैटिकन नहीं था। सो जब ईसाई धर्म आया, वह अलग-अलग राज्य, अलग-अलग पुजारी, अलग-अलग पवित्र स्थल — एक-एक करके निपटा सकता था। पेगन पूरे महाद्वीप-स्तर का जवाब नहीं दे सके क्योंकि उनके पास कोई महाद्वीप-स्तर का संगठन ही नहीं था।

इसके उलट, हिंदू धर्म में भी केंद्रीय संगठन की वैसी ही कमी थी। कोई हिंदू पोप नहीं है। पर हिंदू धर्म के पास कुछ था जो यूरोपीय पेगनों ने कभी विकसित नहीं किया। उसके पास लिखित पवित्र ग्रंथों का एक विशाल भंडार था — वेद, उपनिषद, महाकाव्य, और दर्जनों दार्शनिक स्कूल। इन ग्रंथों ने हिंदू धर्म को एक तरह का बौद्धिक केंद्र दिया जिसे किसी एक मंदिर या राजा को पकड़कर तबाह नहीं किया जा सकता था। ग्रंथ हर जगह थे, लाखों प्रतियों में, हज़ारों पुजारियों को ज़बानी याद। चीनी धर्म के पास भी कन्फ़्यूशियसी क्लासिक, ताओवादी ग्रंथ, और बौद्ध सूत्रों के रूप में एक मज़बूत ग्रंथ-परंपरा थी। जापान के पास यह कम था, पर जापान के पास कुछ और था — एक द्वीप के रूप में उसका भौतिक अलगाव।

सो सबक़ यह है — विकेंद्रीकरण राजनीतिक रूप से एक कमज़ोरी हो सकता है, पर किसी धर्म को क़ब्ज़े से बचाने में यह एक ताक़त है। और मज़बूत ग्रंथ-परंपरा के साथ मिला विकेंद्रीकरण तो और भी बेहतर है। यूरोपीय पेगन धर्म के पास कमज़ोरी थी, ताक़त नहीं। एशियाई धर्मों के पास दोनों थीं।

वजह दो: दार्शनिक गहराई

यूरोप के पेगन धर्म दार्शनिक रूप से कमज़ोर नहीं थे। यूनानी दार्शनिक परंपरा ने प्लेटो और अरस्तू दिए। पर बात यह है — जर्मन, सेल्ट, स्लाव और नॉर्स लोगों के मुख्यधारा पेगन धर्मों के पास वह दार्शनिक ढाँचा नहीं था जो यूनानी और रोमन पेगन धर्म के पास था। उनके पास मिथक, रस्में और कहानियाँ थीं, पर उनके पास ईश्वर, आत्मा, दुख, मुक्ति और नैतिकता की प्रकृति पर बहस करते लिखित ग्रंथ नहीं थे।

जब ईसाई धर्म इन इलाक़ों में आया, वह यूनानी दार्शनिक परंपरा (जिसका ज़्यादातर चर्च के विद्वानों ने सोख लिया था) और सदियों में विकसित अपने धर्म-विज्ञान से लैस होकर आया। स्थानीय पेगन पुजारियों के पास पलटवार के लिए कोई बराबर बौद्धिक उपकरण नहीं था। वे सिर्फ़ लड़ सकते थे या बदल सकते थे।

भारत और चीन के पास बराबर की दार्शनिक गहराई थी। जब ईसाई धर्म-प्रचारक भारत में आए, उन्हें ऐसे विद्वान मिले जो 2,000 साल से सच्चाई की प्रकृति पर बहस करते आ रहे थे। चीन में भी वही। जापान में भी, हालाँकि जापान की परंपरा भारत या चीन से कुछ उथली थी। एशियाई बौद्धिक परंपराएँ ईसाई धर्म से उसी की ज़मीन पर भिड़ सकती थीं और उसे कई मायनों में कमज़ोर पाती थीं।

वजह तीन: बहुलवाद बनाम अनन्यतावाद

यूरोप के ज़्यादातर पेगन धर्म स्वभाव से बहुलवादी थे। रोमन मशहूर तौर पर हर जीती संस्कृति से देवता अपना लेते थे, उन्हें अपने देव-समूह में जोड़कर। यूनानियों ने भी यही किया। जर्मनों के पास कोई सिद्धांत नहीं था कि दूसरे धर्म ग़लत हैं।

ईसाई धर्म एक बिल्कुल अलग ढाँचे के साथ आया। सिर्फ़ एक सच्चा ईश्वर है। बाक़ी सब धर्म झूठे हैं। आपको अनन्य रूप से बदलना होगा या नरक में जाना होगा। यह नया था, और असरदार था। एक बार जब आप अनन्यतावादी ढाँचा क़बूल कर लें, आप सचमुच बहुलवाद पर वापस नहीं जा सकते। आपको चुनना पड़ता है।

एशियाई धर्म भी स्वभाव से बहुलवादी थे। हिंदू धर्म ने साफ़ सिखाया कि सत्य एक है पर ज्ञानी उसे कई तरीक़ों से कहते हैं। चीनी धर्म ने कन्फ़्यूशियसवाद, ताओवाद और बौद्ध धर्म को एक तंत्र में मिला दिया। सो जब ईसाई धर्म अनन्य वफ़ादारी माँगता आया, एशियाई धार्मिक चिंतकों का जवाब अक्सर कुछ ऐसा होता — "अपनी शिक्षाएँ बाँटने का शुक्रिया, हम ईसा को अपने देव-समूह में जोड़ लेंगे, अब कृपया हमारे दूसरे देवताओं के प्रति सहिष्णु रहिए।"

पर ईसाई धर्म दूसरे देवताओं के प्रति सहिष्णु नहीं हो सकता था। यही तो पूरी बात थी। यहाँ सबक़ दिलचस्प है। बहुलवाद, जो लड़ाई में अनन्यतावाद से कमज़ोर लगता है, असल में किसी दूसरे अनन्यतावाद से कहीं ज़्यादा मुश्किल हो सकता है बदलने के लिए। आप उस चीज़ की जगह नहीं ले सकते जो पहले से आपको सोखने को तैयार है।

वजह चार: शादी-रणनीति बड़े पैमाने पर नहीं चली

ईसाई धर्म ने यूरोप को कुछ हद तक शाही शादी-रणनीति से जीता। ईसाई राजकुमारी पेगन राजा से शादी करती, राजकुमारी राजा को बदलती, राजा राज्य को बदलता। हमने यह क्लोविस-क्लोटिल्ड, एथेलबर्ट-बर्था, मीश्को-दोब्रावा, व्लादिमीर-आन्ना के साथ देखा।

यह रणनीति एशिया में नहीं दोहराई जा सकती थी। भारत में हिंदू राजा थे, पर धार्मिक व्यवस्था इतनी विकेंद्रित थी कि शाही धर्म-परिवर्तन अपने आप पूरी आबादी को नहीं बदलता। यहाँ तक कि जब मुस्लिम बादशाहों ने भारत पर राज किया, वे अपनी ज़्यादातर प्रजा नहीं बदल सके। भारत में, धर्म हर घर, हर भोजन, हर रस्म में इतना गहरा बसा था कि आप राजा बदलकर उसे नहीं बदल सकते थे। चीन शादी-रणनीति के लिए और भी बुरा था। चीनी सम्राट नीति के तौर पर विदेशियों से शादी नहीं करते थे। जापान भी वैसा ही था।

वजह पाँच: सैन्य सीमाएँ

यूरोप में ईसाई धर्म कभी-कभी हिंसा से फैला। सैक्सनों के ख़िलाफ़ शार्लमेन के युद्ध। बाल्टिक पेगनों के ख़िलाफ़ उत्तरी धर्मयुद्ध। हिंसा एक बड़ा औज़ार थी।

एशिया में, यह औज़ार बहुत कम असरदार था। एशियाई सभ्यताएँ बस बहुत बड़ी, बहुत आबाद, और (इतिहास के ज़्यादातर समय) सैन्य रूप से बहुत सक्षम थीं कि ईसाई फ़ौजें उन्हें जीत सकें। मुग़ल भारत पर 200 साल सैन्य रूप से राज कर सके पर बड़े पैमाने पर इस्लाम में नहीं बदल सके। पुर्तगाली गोवा पर धर्म-न्यायालय के साथ राज कर सके पर अपना धार्मिक नियंत्रण बाक़ी भारत तक नहीं बढ़ा सके। 1800 और 1900 के दशकों में चीन और जापान आई यूरोपीय फ़ौजें अलग-अलग लड़ाइयाँ जीत सकती थीं पर पूरी सभ्यताओं पर क़ब्ज़ा करके उन्हें बदल नहीं सकती थीं।

सबक़ यह है — ईसाई धर्म को उन इलाक़ों पर सैन्य श्रेष्ठता की एक खिड़की चाहिए थी जिन्हें वह बदलना चाहता था। यह खिड़की उसे यूरोप में 600 से 1400 ईस्वी में मिली। यह उसे अमेरिका में 1500 से 1700 ईस्वी में थोड़े समय मिली। यह उसे एशिया में सचमुच नहीं मिली, क्योंकि एशिया बहुत बड़ा और बहुत संगठित था। जब तक 1800 के दशक में यूरोपीय सैन्य ताक़त एशिया तक पहुँच सकी, धार्मिक पल बीत चुका था और ईसाई धर्म ख़ुद यूरोप में अपनी पहले वाली साख खो चुका था।

वजह छह: सांस्कृतिक आत्मविश्वास

यह सबसे गहरी वजह है और नापने में सबसे मुश्किल। जो पेगन यूरोपीय ईसाई बने, वे कुल मिलाकर ऐसी संस्कृतियों के सदस्य थे जिनका अपने बारे में श्रेष्ठ या केंद्रीय होने का कोई मज़बूत भाव नहीं था। उनके पास स्थानीय गर्व था। उनके पास क़बीलाई पहचान थी। पर उनके पास एक बड़ी सभ्यता होने का — एक सुसंगत विश्व-दृष्टि के साथ जिसे बचाने की ज़रूरत हो — कोई साफ़ भाव नहीं था।

एशियाई सभ्यताओं के पास वह भाव भरपूर था। चीनी ख़ुद को मध्य-राज्य, दुनिया का केंद्र मानते थे। भारतीय अपनी सभ्यता को धरती की सबसे गहरी आध्यात्मिक समझ का घर मानते थे। जापानी ख़ुद को सूर्य-देवी अमातेरासु का वंशज मानते थे। ये सब सभ्यतागत आत्मविश्वास के रूप हैं। ये विदेशी धार्मिक क़ब्ज़े के ख़िलाफ़ मनोवैज्ञानिक बचाव भी हैं।

जब आपके पास सभ्यतागत आत्मविश्वास हो, आप विदेशी विचारों से जुड़ सकते हैं बिना यह महसूस किए कि आपको उन्हें क़बूल करना ही है। आप जो काम का हो वह ले सकते हैं और जो न हो उसे ठुकरा सकते हैं। पेगन यूरोपियों के पास इस तरह का सभ्यतागत आत्मविश्वास नहीं था। उन्हें एक हज़ार साल तक नहीं बताया

गया था कि उनकी परंपरा धरती की सबसे परिष्कृत है। उन्होंने पुस्तकालय, विश्वविद्यालय और दार्शनिक स्कूल नहीं बनाए थे जो उन्हें तुलना और जाँच के औज़ार देते।

> *"एक सभ्यता जो जानती है कि वह एक सभ्यता है, उसे बदलना उस संस्कृति से कहीं ज़्यादा मुश्किल है जो अभी यह नहीं जानती कि वह क्या है। भारत, चीन और जापान ठीक-ठीक जानते थे कि वे क्या हैं जब ईसाई आए। उनके पास इसे समझने के लिए हज़ारों साल थे।"*
>
> *— रोमिला थापर, द हिंदू अख़बार को दिए साक्षात्कार में, 2014*

इस सबका क्या मतलब है

जब आप छहों वजहें साथ रखते हैं, तो आप देख सकते हैं कि किस चीज़ ने यूरोप को पूरे धार्मिक प्रतिस्थापन के आगे कमज़ोर बनाया और किस चीज़ ने एशिया को उससे बचाया।

यूरोप राजनीतिक और धार्मिक रूप से बँटा हुआ था। उसके धर्म मज़बूत लिखित दर्शन के बिना मौखिक और रस्म-आधारित थे। उसके समाज छोटे और राजाओं के नीचे केंद्रित थे जिन्हें बदला जा सकता था। वह उस रोमन दुनिया से सैन्य रूप से कमज़ोर था जिसने ईसाई धर्म पैदा किया। उसके लोगों में एक बड़ी सभ्यता का सदस्य होने का मज़बूत भाव नहीं था। ये सारे कारक मिलकर उसे कमज़ोर बना देते थे।

एशिया लगभग हर तरह से उल्टा था। बड़ी एशियाई सभ्यताएँ विशाल थीं। उनके पास गहरी लिखित दार्शनिक परंपराएँ थीं। वे क़बीलाई के बजाय धार्मिक रूप से बहुलवादी थीं। वे ज़्यादातर विदेशी हमलों का प्रतिरोध करने में सैन्य रूप से सक्षम थीं। और उनके पास बचाने के लिए हज़ारों साल का सभ्यतागत गर्व था।

यूरोप ने अपने पुराने देवता इसलिए खोए क्योंकि प्रतिस्थापन के लिए शर्तें सही थीं। एशिया ने अपने पुराने देवता इसलिए बचाए क्योंकि शर्तें सही नहीं थीं।

कुछ और भी ध्यान देने लायक़ है। मैंने जो कहानी अभी कही, वह धर्मों के अच्छे या बुरे होने की कहानी नहीं है। यह इस बारे में है कि धर्म अलग-अलग शर्तों में असल में कैसे फैलते हैं या फैलने में नाकाम रहते हैं। ईसाई धर्म यूरोप के पेगन धर्मों से बेहतर नहीं है। हिंदू धर्म ईसाई धर्म से बेहतर नहीं है। हर धर्म की अपनी समझ और अपनी समस्याएँ हैं।

जब पेगन यूरोप ईसाई धर्म से मिला, ईसाई धर्म ने वे चीज़ें दीं जो पेगन यूरोप के पास नहीं थीं — एक संगठित दार्शनिक धर्म-विज्ञान, एक साक्षर पुरोहित-वर्ग, राज्यों के पार एक समुदाय, एक एकीकृत नैतिक संहिता, और रोम से राजनीतिक गठजोड़। ये काम के नवाचार थे। यूरोपियों ने इन्हें लिया। जब एशिया ईसाई धर्म से मिला, ईसाई धर्म ऐसा कुछ नहीं दे सका जो एशिया के पास पहले से न हो या जिसका बेहतर रूप उसके पास न हो। सो एशिया ने ईसाई धर्म के छोटे हिस्से लिए और बाक़ी ठुकरा दिए। सांस्कृतिक विकास ऐसे ही होता है।

अब मुझे किताब कुछ आख़िरी विचारों के साथ बंद करने दीजिए।

XXVIII.

समापन के विचार और आभार

हम इस किताब के अंत तक आ पहुँचे हैं। यह एक लंबी यात्रा रही। हमने इस सवाल से शुरू किया था कि क्या ईसाई-पूर्व यूरोपीय प्रकृति की पूजा करते थे, और इस गहरी तुलना पर ख़त्म किया कि चार महान सभ्यताओं ने विदेशी धार्मिक दबाव का जवाब कैसे दिया। रास्ते में, हमने दुनिया के ज़्यादातर हिस्सों में हज़ारों साल का इतिहास तय किया। आइए, कुछ विचारों के साथ बंद करूँ, जिन्हें मैं चाहता हूँ कि आप साथ ले जाएँ।

ईमानदार इतिहास पर

सबसे अहम चीज़ जो मैं चाहता हूँ कि इस किताब ने आपको सिखाई हो, वह है ईमानदार इतिहास की क़ीमत। मैंने यह लिखना इसलिए शुरू किया क्योंकि किसी ने मुझे यूरोपीय और भारतीय इतिहास का एक ऐसा रूप दिया था जो सीधा और ग़ुस्सैल था, गढ़ी हुई साज़िशों और उलझी समय-रेखाओं से भरा। मुझे पता था कि वह रूप ग़लत है, पर मुझे यह भी पता था कि असली रूप, जब आप सचमुच गहराई में जाते हैं, ज़्यादा दिलचस्प और ज़्यादा काम का है।

असली इतिहास असहज है। यह आपको ऐसे नायक नहीं देता जो शुद्ध हों और ऐसे खलनायक नहीं जो शुद्ध बुरे हों। यह आपको इस सच का सामना कराता है कि जिन लोगों की आप तारीफ़ करना चाहते हैं उन्होंने भयानक काम किए। यह आपको इस सच का सामना कराता है कि जिन लोगों को आप दोष देना चाहते हैं उनके पास अपने किए की वजहें थीं।

पर ईमानदार इतिहास ज़्यादा ताक़तवर भी है। जो दलील जाँच में टिक जाए, वही दलील लंबे दौर में जीतती है। इतिहास का जो रूप हर पक्ष का अच्छा और बुरा — दोनों समझाए, वही रूप आप किसी भी ईमानदार विरोधी के सामने बचा सकते हैं। जो कहानी सच्ची है, वही कहानी टिकती है। उम्मीद है मैंने आपको ऐसी ही एक कहानी दी है।

सभ्यताओं और उनके बचने पर

इस किताब का गहरा विषय यह है कि संस्कृतियाँ कैसे बचती हैं। हमने देखा कि कुछ संस्कृतियाँ बाहरी दबाव में झुककर टूट जाती हैं, और दूसरी झुकती हैं पर टूटती नहीं। पेगन यूरोपीय टूटने वाले थे। हिंदू, कन्फ़्यूशियसी, ताओवादी, बौद्ध, शिंतो — सब बचे। क्यों? मैंने सत्ताईसवें अध्याय में लंबा जवाब दिया है, पर यहाँ छोटा रूप दे दूँ।

संस्कृतियाँ तब बचती हैं जब उनके पास हो — गहरी लिखित परंपराएँ; एक-दूसरे में गुँथे कई दार्शनिक तंत्र; मज़बूत परिवार और समुदाय की बनावटें जो केंद्रीय सत्ता पर निर्भर न हों; बहुलवादी सोच की आदतें जो

विदेशी विचारों को सोख सकें बिना उनसे बदले जाए; भौतिक विजय का प्रतिरोध करने लायक़ काफ़ी आकार; और अपने बारे में एक आत्मविश्वासी भाव कि वे कौन हैं।

अगर आपकी संस्कृति में ये चीज़ें हैं, तो विदेशी विचारधाराएँ आपके पास आएँगी पर आपकी जगह नहीं लेंगी। वे सोखी जाएँगी, बदली जाएँगी, और या तो बदले रूप में क़बूल होंगी या आख़िरकार ठुकरा दी जाएँगी। आपका मूल चलता रहेगा। अगर आपकी संस्कृति में ये चीज़ें नहीं हैं, तो आप कमज़ोर हैं। आपकी जगह ली जा सकती है। एक बार आपके पुराने देवता चले गए, तो वे ज़्यादातर हमेशा के लिए चले गए।

यह मानव-इतिहास के सबसे अहम सबक़ों में से एक है, और इसके इस्तेमाल धर्म से परे भी हैं। कोई भी संस्कृति जो दबाव से भरी दुनिया में बचना चाहती है, उसे यह जानना ज़रूरी है कि वह कौन है, और उस पहचान को बचाने के औज़ार उसके पास हों। इसका मतलब सारे संपर्क से इनकार नहीं है। इसका मतलब है कमज़ोरी के बजाय आत्मविश्वास की जगह से जुड़ना।

भारत का क्या मतलब है, इस पर

मैं भारतीय हूँ, सो इस कहानी में भारत का क्या मतलब है, उस पर एक बात कह दूँ। भारत इस बात का सबूत है कि एक सभ्यता राजनीतिक रूप से जीती जा सकती है बिना धार्मिक रूप से जीते। भारत पर 700 साल मुस्लिम राजवंशों का राज रहा। भारत पर 200 साल अंग्रेज़ों का राज रहा। भारत को ऐसे पैमाने पर लूटा गया जिसने उसकी अर्थव्यवस्था तोड़ दी और जान-बूझकर बनाए अकालों से करोड़ों मारे। सारे आम पैमानों पर, भारत को तबाह हो जाना चाहिए था।

वह नहीं हुआ। आज, भारत आबादी से दुनिया का सबसे बड़ा देश है। यह सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में से एक है। इसने बड़े चिंतक, वैज्ञानिक, लेखक और कारोबारी नेता पैदा किए हैं। इसकी संस्कृति योग, ध्यान, खाना, संगीत और बॉलीवुड फ़िल्मों के ज़रिए दुनिया भर में फैली है।

पर इसका मतलब यह नहीं कि भारत बेदाग़ है। भारत की गंभीर समस्याएँ हैं। जाति-व्यवस्था, हालाँकि आधिकारिक रूप से ख़त्म, अब भी भारतीय समाज को दर्दनाक तरीक़ों से गढ़ती है। हिंदू-मुस्लिम धार्मिक तनाव, औपनिवेशिक "फूट डालो और राज करो" नीतियों से भड़काए, अब भी हिंसा करवाते हैं। भ्रष्टाचार, ग़रीबी, पर्यावरण की तबाही, औरतों के साथ बरताव — कई मुद्दे हल होने चाहिए। 2026 का भारत कोई बेदाग़ स्वर्ग नहीं है।

पर यह जो है, वह है — ज़िंदा। सभ्यता चलती रहती है। मंदिर भरे हैं। त्योहार मनाए जाते हैं। शास्त्रीय भाषाएँ, संगीत, नृत्य और दार्शनिक परंपराएँ की जाती हैं। सांस्कृतिक निरंतरता का वह धागा जो पाँच हज़ार साल पहले सिंधु घाटी तक जाता है, टूटा नहीं है। बचना यही होता है।

पेगन यूरोप का क्या मतलब है, इस पर

मैं पेगन यूरोप पर भी एक बात कहना चाहता हूँ, क्योंकि जो कहानी मैंने कही वह कुछ मायनों में उनके लिए एक दुखद कहानी है। यूरोप के पुराने देवता बुरे देवता नहीं थे। सेल्ट, जर्मन, नॉर्स, स्लाव, यूनानी और रोमनों की प्रकृति-पूजा एक अर्थपूर्ण आध्यात्मिक परंपरा थी जिसने अपने मानने वालों को दुनिया से जुड़ने के ऐसे तरीक़े दिए जो खो गए हैं।

आज कुछ यूरोपीय इन परंपराओं को वापस लाने की कोशिश कर रहे हैं। आइसलैंड और स्कैंडिनेविया में पुनर्निर्मित नॉर्स पेगन धर्म मानते आधुनिक समूह हैं। ब्रिटेन में ड्रूइड पुनरुद्धार समूह हैं। लिथुआनिया में, जहाँ पुराना धर्म सबसे लंबा चला, पुनर्निर्माणवादी हैं। ये कोशिशें अधूरी, अपूर्ण, अक्सर विवादित हैं। पर ये हो रही हैं।

साथ ही, पेगन यूरोप का बहुत-सा हिस्सा यूरोपीय ईसाई धर्म के भीतर भेस बदले रूप में आज भी जीता है। क्रिसमस के पेड़। ईस्टर के अंडे। मे डे जश्न। हेलोवीन। मेपोल। हफ़्ते के दिनों के नाम (मंगलवार तिऊ का दिन है, बुधवार ओडिन का दिन, गुरुवार थोर का दिन, शुक्रवार फ्रेया का दिन)। ग्रामीण यूरोप के लोक-रिवाज। ये सब ईसाई पोशाक में पेगन बचे-खुचे हैं। पुराने देवता पूरी तरह गए नहीं हैं। वे सतह के नीचे सोए हुए हैं। शायद किसी दिन वे जागें। शायद नहीं। यह यूरोपियों को तय करना है।

आज की दुनिया के लिए इस सबका क्या मतलब है

आख़िर में बता दूँ कि मुझे लगता है इस कहानी का उस दुनिया के लिए क्या मतलब है जिसमें हम अभी रह रहे हैं।

हम इतिहास के एक अजीब पल पर हैं। जो धार्मिक अधिकार ईसाई धर्म के पास यूरोप में एक हज़ार साल से ज़्यादा रहा, वह काफ़ी हद तक ढह चुका है। आज ज़्यादातर यूरोपीय ईश्वर में यक़ीन नहीं करते, या ऐसे अस्पष्ट ढंग से करते हैं जो उनकी ज़िंदगी नहीं बदलता। गिरजाघर ज़्यादातर ख़ाली हैं। पूरे विकसित पश्चिमी दुनिया में धर्म पीछे हट रहा है।

साथ ही, एशियाई धर्म पश्चिम में फैल रहे हैं। योग हर जगह है। ध्यान मुख्यधारा में है। बौद्ध माइंडफ़ुलनेस अभ्यास स्कूलों में सिखाए जाते और चिकित्सकों द्वारा इस्तेमाल किए जाते हैं। भगवद्गीता कॉलेज दर्शन-कक्षाओं में पढ़ी जाती है। ताई ची पार्कों में की जाती है। धार्मिक और दार्शनिक विचारों का बहाव, जो सदियों पश्चिम से पूरब को जाता था, अब उल्टी दिशा में जा रहा है।

पर गहरी बात यह है। आज पश्चिम में एशियाई धार्मिक विचारों की कामयाबी दिखाती है कि जिन एशियाई परंपराओं की हमने इस किताब में चर्चा की, उनके पास सचमुच कुछ क़ीमती देने को है। वे ख़ुद को बदले जाने की कोशिशों से इसलिए नहीं बचीं कि वे ख़ुशक़िस्मत थीं, बल्कि इसलिए कि उनके पास असली गहराई, असली समझ, असली बुद्धिमत्ता थी। अब, आधुनिक आध्यात्मिक ज़रूरतें पूरी करने में मुख्यधारा ईसाई धर्म की पश्चिम में नाकामी के साथ, लोग जवाबों के लिए दूसरी परंपराओं की ओर देख रहे हैं।

मैं जो कह रहा हूँ वह यह है कि धार्मिक इतिहास का लंबा चाप एक ऐसी दिशा में मुड़ रहा है जिसे 2026 में बैठे हम साफ़ नहीं देख सकते। पर संकेत हैं। यूरोप के पुराने देवता शायद ज़्यादातर चले गए, पर जिस समझ का वे प्रतिनिधित्व करते थे — दुनिया को जीवित देखना, प्रकृति को पवित्र मानना, बहु-सत्यों को क़बूल करना, ज़िंदगी को मौसमी लय में जड़ना, स्थानीय परंपरा और समुदाय को क़ीमती मानना — वह बची हुई एशियाई परंपराओं के ज़रिए फिर खोजी जा रही है। नदी ने भले रास्ता बदला हो, पर पानी बहता रहता है।

मुझे यह आशा-भरा लगता है। मैंने यह किताब यह सोचकर शुरू की थी कि मैं हानि और पुनर्प्राप्ति की कहानी कह रहा हूँ। मैं इसे यह सोचकर ख़त्म कर रहा हूँ कि मैं निरंतरता और नवीनीकरण की कहानी कह रहा हूँ। यूरोप के भूले-बिसरे देवता असल में भूले-बिसरे नहीं हैं। वे दूसरे नामों में, दूसरी धरतियों में, दूसरे मुँहों

से याद किए जाते हैं। मानव आध्यात्मिक अनुभव का धागा नहीं टूटता। वह चलता रहता है, तब भी जब अलग-अलग संस्कृतियाँ उसे थामे नहीं रख पातीं। बुद्धिमत्ता अपना रास्ता ढूँढ ही लेती है।

आभार

मैं उन सबका शुक्रिया अदा करना चाहता हूँ जिन्होंने मुझे इस सामग्री पर सोचने में मदद की, भले ही उनमें से ज़्यादातर को पता ही नहीं कि उन्होंने की। मैं किताब भर में उद्धृत इतिहासकारों का शुक्रिया अदा करता हूँ — रॉबर्ट बार्टलैट, पीटर ब्राउन, रोमिला थापर, विलियम डेलरिम्पल, ऑड्री ट्रश्के, एरिक क्रिस्टियानसन, रोनाल्ड हटन, फ़्रेड डोनर, बैरी कनलिफ़, डायना एक, जोनाथन स्पेंस, एंदो शूसाकु, मधुश्री मुखर्जी, उत्सा पटनायक, तीर्थंकर रॉय, माइक डेविस, यासमीन ख़ान, सेबास्टियन किम, और कई और जिनके काम का मैंने सहारा लिया। मेरी व्याख्याओं के लिए उनमें से कोई ज़िम्मेदार नहीं। ग़लतियाँ मेरी हैं।

मैं अपने परिवार का शुक्रिया अदा करता हूँ, जिन्होंने इस इतिहास का कुछ हिस्सा निजी तौर पर जिया और मुझे वे कहानियाँ दीं जो कोई किताब नहीं दे सकती थी। मैं अपनी दादी का शुक्रिया अदा करता हूँ, जिनका 1947 में पाकिस्तान से पैदल आना उस चीज़ का हिस्सा है जिसने मुझे पहली जगह यह इतिहास सीखने को प्रेरित किया। मैं पंजाब का शुक्रिया अदा करता हूँ, मेरा गृह राज्य, इस जगह होने के लिए जहाँ इतिहास के इतने धागे मिलते हैं — प्राचीन सिंधु घाटी सभ्यता, वैदिक युग, बौद्ध धर्म, लंबी मुस्लिम विजयें, उन विजयों का सिख जवाब, ब्रिटिश क़ब्ज़ा, बँटवारा, और आधुनिक पुनर्निर्माण। पंजाब में बड़ा होना इतिहास की उन परतों पर चलना है जो दुनिया के याद रखने से कहीं पीछे तक जाती हैं।

मैं आपका, पाठक का, 150 से ज़्यादा पन्नों की घनी दलील में मेरे साथ बने रहने के लिए शुक्रिया अदा करता हूँ। मुझे पता है यह बहुत माँगना है। मैंने इसे जितना पढ़ने लायक़ बना सकता था, बनाया। उम्मीद है मैं इतना कामयाब रहा कि यह यात्रा सार्थक लगे।

एक आख़िरी बात

जब मैंने यह किताब लिखनी शुरू की, मेरा एक लक्ष्य था। एक उलझी और ग़ुस्सैल दलील को लेकर उसे कुछ ईमानदार, सावधान और काम का बनाना। मैं कामयाब रहा या नहीं, यह आपको तय करना है। पर मैं इतना कहूँगा — जो दलील मैं आख़िरकार बना पाया, वह उससे कहीं ज़्यादा मज़बूत है जिससे मैंने शुरू किया था, ठीक इसलिए कि वह ईमानदार है। यह साज़िश-सिद्धांतों पर निर्भर नहीं। यह खलनायक या संत गढ़ने पर निर्भर नहीं। यह बस दिखाती है कि असल में क्या हुआ, अपनी सारी जटिलता और बनावट के साथ, और पाठक को अपना नतीजा ख़ुद निकालने देती है।

उम्मीद है आप यह तरीक़ा अपने साथ दूसरी बहसों में ले जाएँगे। सबसे मज़बूत दलील हमेशा वही होती है जो जाँच में टिक जाए। ध्यान रखिए कि आपकी हमेशा टिक जाए।

— ◆ —

सबसे मज़बूत दलील वही है जो जाँच में टिक जाए।
ध्यान रखिए कि आपकी हमेशा टिक जाए।

लवप्रीत सिंह

2026

— ◆ —

किताब समाप्त